संक्षिप्त अलङ्कार-मञ्जरी

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार

संक्षिप्त अलङ्कार-मञ्जरी

लेखक

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार

२०१३

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

आठवाँ संस्करण : २१००

मूल्य २)

सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशकीय

"संक्षिप्त अलंकार मञ्जरी" का यह आठवाँ संस्करण है। सेठ कन्हैयालाल जी पोद्दार ने संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के अङ्गों और उपाङ्गों का व्यापक अध्ययन किया है। हिन्दी में आपका "काव्य कल्पद्रुम" अपनी शैली का एक अनूठा ग्रन्थ है। उसी के आधार पर सेठजी ने यह संक्षिप्त अलंकार मञ्जरी मध्यमा परीक्षा के परीक्षार्थियों के लिए प्रस्तुत की है। आशा है कि साहित्य के अन्यान्य छात्रों के लिए भी यह ग्रन्थ विशेष रूप से उपयोगी और लाभदायक सिद्ध होगा।

—साहित्य मन्त्री

प्राक्कथन

'युवतेरिवरूपमंगकाव्यं, स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयनिरन्तराभिः, सदलंकारविकल्पकल्पनाभिः[1]।'

काव्यालंकार-सूत्र ३।१।३१

साहित्य में अलंकार का एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। अलंकारों की रचना अनादिकालिक वेदों में भी उपलब्ध होती है, और वाल्मीकीय रामायण, महाभारत एवं पुराणादि आर्ष ग्रन्थों में तो अलंकारात्मक वर्णन यथेष्ट मिलते हैं। भरत मुनि के नाटयशास्त्र और अग्निपुराण में किये गये अलंकार निरूपण द्वारा प्रत्यक्ष है कि साहित्य में अलंकार सम्प्रदाय भी रस सम्प्रदाय के समकालीन है।

काव्य में अलंकार का स्थान

ध्वनिकार और आचार्य मम्मट ने काव्य के प्रधान तीन भेदों में—ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और अलंकारों में ध्वनि का प्रथम और गुणीभूत व्यंग्य का द्वितीय एवं अलंकार का तृतीय स्थान निर्दिष्ट किया है। रस, भाव आदि जो काव्य के अनिर्वचनीय पदार्थ हैं वे व्यंग्यार्थ पर निर्भर होने के कारण ध्वनि को काव्य में सर्वोच्च स्थान दिया जाना उचित ही है।

---

१ काव्य, तरुणी के रूप के समान है, वह शुद्ध गुण युक्त होने पर तो रुचिकर होता ही है, तथापि जिस प्रकार वह रत्नाभूषणों से सज्जित हो जाने पर रसिक जनों के लिए अत्यन्त आकर्षक हो जाता है उसी प्रकार गुणयुक्त काव्य भी अलंकारों से युक्त हो जाने पर काव्य-मर्मज्ञों के चित्त को अत्यन्ताह्लादक हो जाता है।

फिर भी शब्द-सौन्दर्य और मनोहरता अलंकार पर ही निभर है। कहा है—

'अलंकरणर्मानामर्थालंकारमिष्यते,
तं विना शब्दसौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम्।'

अग्निपुराण

इसके सिवा श्रीमम्मट के पूर्ववर्ती भामह, उद्भट और वामन आदि आचार्यों के ग्रन्थों के नामकरण[1] द्वारा भी स्पष्ट है कि प्राचीनाचार्यों ने अलंकार को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। अतएव अलंकार-सूत्र के प्रणेता श्री रुय्यक ने कहा है कि "काव्य में अलंकार ही प्रधान है" यह प्राचीन साहित्याचार्यों का मत है—'तदालंकारा एवं काव्ये प्रधानमिति प्रच्यानां मतम्।'

अलंकार क्या है

अलंकरोतीति अलंकारः। अर्थात् शोभाकारक पदार्थ को अलंकार कहते हैं। जिस प्रकार लौकिक व्यवहार में सुवर्ण और रत्न-निर्मित आभूषण शरीर को अलंकृत करने के कारण अलंकार कहे जाते हैं, उसी प्रकार काव्य को अलंकृत–शोभायमान–करने वाले पदार्थ की रचना को काव्य में अलंकार कहते हैं। आचार्य दण्डी ने कहा है—

काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।[2]

काव्यादर्श

अतएव शब्द-रचना के वैचित्र्य-रचना द्वारा काव्य को शोभित करने वाले अलंकारों को शब्दालंकार और अर्थ-वैचित्र्य की रचना द्वारा काव्य को शोभित करने वाले अलंकारों को अर्थालंकार कहते हैं। शब्दालंकारों का

---

१ काव्यालंकार, काव्यालंकारसारसंग्रह और काव्यालंकार-सूत्र इत्यादि
२ देखिये काव्यादर्श २।२२०

चमत्कार वर्णों अथवा शब्दों की पुनरावृत्ति और श्लिष्ट-शब्दों के प्रयोग पर निर्भर है। अर्थालंकारों का चमत्कार अर्थ की विचित्रता पर निर्भर है।

संस्कृत के उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर श्रीभरतमुनि के बाद अलंकार सम्प्रदाय के प्रधानाचार्य भामह ने इस शब्दार्थ-वैचित्र्य की 'वक्रोक्ति' संज्ञा मानी है और इस वक्रोक्ति को सम्पूर्ण अलंकारों में सर्वत्र व्यापक बतलाते हुए इसे अलंकारों का एक मात्र आश्रय माना है।

आचार्य भामह के पश्चात् आचार्य दण्डी ने इसी उक्ति-वैचित्र्य को 'अतिशयोक्ति' संज्ञा मानकर उसे सारे अलंकारों का एकमात्र आश्रय बताया है।

'वक्रोक्ति' और 'अतिशयोक्ति' यह दोनों पर्याय शब्द हैं—

एवं चातिशयोक्तिरिति वक्रोक्तिरिति पर्याय इति बोध्यम्।

जिसको भामह ने 'वक्रोक्ति' और दण्डी ने 'अतिशयोक्ति' कहा है उसका अर्थ है—किसी बात को लोकोत्तर अतिशय से कहना। कहा है—

'लोकोत्तरेण चैवातिशयः......अनया अतिशयोक्तया,..... विचित्रतयाभाव्यते।' ध्वन्यालोक-लोचन पृ० २०९

निष्कर्ष यह है कि लोकोत्तर अतिशय कहना ही उक्ति-वैचित्र्य है। वही अलंकार है। अर्थात् किसी वक्तव्य को लोगों की स्वाभाविक साधारण बोलचाल से भिन्न शैली द्वारा अनूठे ढंग से—चमत्कारपूर्वक वर्णन करने को ही अलंकार कहते हैं। उक्ति-वैचित्र्य अनेक प्रकार का होता है। अतएव इसी उक्ति-वैचित्र्य के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार के अलंकारों का होना निर्भर है।

साधारण बोलचाल से भिन्न शैली में क्या विचित्रता होती है और वह अनेक प्रकार से किस प्रकार कही जा सकती है, इस विषय को संक्षिप्त से स्पष्ट करने के लिए इसके उदाहरण रूप में एक ही विषय प्रभात-वर्णन में अनेक प्रकार के उक्ति-वैचित्र्य का यहाँ दिग्दर्शन कराया जाता है—

प्रातःकाल में चन्द्रमा को देखकर साधारण बोलचाल में कहा जाता

है—'चन्द्रमा फीका पड़ गया है' इसी निस्तेज चन्द्रमा के दृश्य पर उक्ति वैचित्र्य —

'प्रिया कुमुदिनी हुई निमीलित, रही दृष्टि-पथ रजनी भी न,
हुए समस्त अस्त तारागण रहा सुपरिजन चिह्न कहीं न,
चिंताग्रस्त इसी से हिमकर होकर विगत-प्रभा प्रभात,
जलनिधि में गिरता है मानो क्षितिज निकट जाकर अचिरात।'[१]

लोग यह समझते हैं कि प्रातःकालीन प्रकाश होने पर चन्द्रमा का निस्तेज हो जाना स्वाभाविक है पर हम तो यह समझते हैं कि चन्द्रमा की प्रेयसी कुमुदिनी का तो पहिले ही निमीलन हो जाता है, उसके साथ ही उसकी दूसरी प्रियतमा रात्रि भी नष्ट हो जाती है और परिजन रूप सारे तारागण भी अस्त हो जाते हैं। इस प्रकार अपने समस्त प्रिय परिवार के विनाश हो जाने के कारण मानों बेचारा शोकग्रस्त रजनीपति—चन्द्रमा—प्रातःकाल अत्यन्त क्षीणांग होकर कान्ति-हीन हो जाता है। इस उक्ति-वैचित्र्य में रूपक द्वारा परिपोषित हेतूत्प्रेक्षा अलंकार है ।[१]

इस दृश्य पर अन्य प्रकार का उक्ति-वैचित्र्य —

'विकसित-मुख प्राची निरखि रवि-कर सों अनुरक्त,
प्राचेतस-दिस जाति ससि ह्वै द्युति-मलिन विरक्त।'

प्रभात में क्षीण-कान्ति—पीला पड़ा हुआ चन्द्रमा पश्चिम दिशा को क्यों जा रहा है ? सुनिए इसका कारण हमारे विचार में तो यह है कि जो ऐन्द्री (इन्द्र सम्बन्धिनी पूर्व दिशा) रात्रि में तेजस्वी चन्द्रमा के साथ रमण

---

१ यहाँ चन्द्रमा के निस्तेज हो जाने में कुमोदिनी, रात्रि और तारागण रूप परिवार के नष्ट हो जाने के कारण उत्पन्न शोक की सम्भावना की गई है, जो कि वास्तव में कारण नहीं है, अतः हेतु उत्प्रेक्षा है। कुमोदिनी और रात्रि में नायिका के एवं तारागणों में परिजनों के आरोप में जो 'रूपक' है वह हेतूत्प्रेक्षा का अंग है।

कर रही थी, वही (पूर्व दिशा) अब चन्द्रमा को निस्तेज देखकर सूर्य के साथ रमण करने लगी है। देखिए न, सूर्य के कर-स्पर्श (किरणों के स्पर्श से श्लेषार्थ—हस्त-स्पर्श) से अनुरक्त (अरुणिमा युक्त श्लेषार्थ—अनुराग युक्त) होकर इसका मुख (पूर्व दिशा के पक्ष में प्रकाशित और नायिका के पक्ष में मुख) विकसित (प्राची दिशा के पक्ष में प्रकाशित और नायिका के पक्ष में मन्द हास्ययुक्त) हो रहा है। पूर्व दिशा का यह व्यवहार अपने सन्मुख (आँखों के सामने) देखकर द्युति मलीन होकर (श्लेषार्थ दुःखित ह्वै होकर) बेचारा चन्द्रमा अब प्राचेतसी दिशा को—पश्चिम दिशा, श्लेषार्थ—मृत्यु का आश्रय ले रहा है।

इस वर्णन में कवि ने श्लिष्ट-विशेषणों के सामर्थ्य से चन्द्रमा में ऐसे विलासी पुरुष की अवस्था की प्रतीति कराई है जो अपने में पूर्वानुरक्त कामिनी को अपने समक्ष अन्य पुरुष में अनुरक्त देखकर मरने को उद्यत हो जाता है। और पूर्व दिशा में ऐसी कुलटा स्त्री की अवस्था की प्रतीति कराई है जो अपने पहिले प्रेम-पात्र का वैभव नष्ट हो जाने पर उसे छोड़कर अन्य पुरुष में आसक्त हो जाती है। इस उक्ति-वैचित्र्य में यहाँ समासोक्ति अलंकार है।

और भी देखिये —

'अरुण कान्तिमय कोमल जिसके हस्त-पाद हैं कमल सनाल,
मधुपावलि है शोभित कज्जल नीलेन्दीवर नयन विशाल।
प्रातः संध्या कल खग-रव का करती सी आलाप महान,
भागी जा रही निशि के पीछे अल्पवयस्का सुता समान।।'

स-नाल कमल ही जिसके कर और चरण हैं, प्रफुल्लित नील कमल-दल ही जिसके नेत्र हैं, कमलों पर मँडराती हुई भृंगावली ही जिसके कज्जल लगा हुआ है और पक्षियों का प्रातःकालिक कल-रव है वही मानों उसका मधुर आलाप है; ऐसी प्रातःकालिक सन्ध्या (अरुणोदय के बाद और सूर्योदय के प्रथम की वेला) उसी प्रकार रात्रि के पीछे भागी जा रही है जिस

प्रकार अल्पवयस्का पुत्री अपनी माता के साथ भागी हुई जाती है। इस उक्ति-वैचित्र्य में उपमा अलंकार है।

ऊपर के उदाहरणों द्वारा विदित हो सकता है कि साधारण बोलचाल से भिन्न शैली या उक्ति-वैचित्र्य क्या पदार्थ है और वह किस प्रकार से कहा जाता है, तथा यह उक्ति-वैचित्र्य ही भिन्न-भिन्न अलंकारों का किस प्रकार आधार है।

इस उक्ति-वैचित्र्य के आधार पर ही महान् साहित्याचार्यों ने अलंकारों के नाम निर्दिष्ट किये हैं। किन्तु किसी अलंकार के केवल नाम द्वारा उस अलंकार के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता है। इसीलिए प्राचीन साहित्याचार्यों ने प्रत्येक अलंकार का यथार्थ स्वरूप समझाने के लिए प्रत्येक अलंकार का लक्षण निर्माण किया है।

अलंकारों का क्रम-विकास

प्रारम्भिक विकासकाल

यह विकास कालक्रम से शनैः शनैः होता रहा है। नाट्य में केवल ४ और अग्निपुराण में केवल १५ अलंकार हैं। अग्निपुराण के पश्चात् और भट्टि और भामह के प्रथम लगभग ३५०० वर्ष के मध्यवर्ती दीर्घ काल में लिखा हुआ इस विषय का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है। इसी की छठी शताब्दी के लगभग का सर्वप्रथम ग्रन्थ हमको आचार्य भामह का काव्यालंकार मिलता है। इसमें किये गये 'परे', 'अन्ये', 'केचित', केषांचित्' और 'अपरे' इत्यादि प्रयोगों द्वारा एवं शाखावर्द्धन, राम शर्मा और मेधाविन आदि के नामोल्लेख के कारण यह सिद्ध होता है कि भामह के पहले अनेक अलंकार ग्रन्थ लिखे गये हैं। अग्नि पुराण के बाद भामह के काव्यालंकार में जो अलंकारों की संख्या-वृद्धि एवं उनका विकास दृष्टिगत होता है वह केवल भामह द्वारा ही नहीं, किन्तु अनेक विद्वानों द्वारा क्रमशः हुआ है।

द्वितीय विकासकाल

भट्टि और भामह से वामन तक अर्थात् ईसा की छठी शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक अलंकारों के क्रम-विकास का द्वितीय काल है। भट्टि और भामह द्वारा ३८ अलंकारों का निरूपण किया गया है। और इनके बाद दण्डी उद्भट और वामन तक १४ अलंकारों की वृद्धि हुई है। यद्यपि वामन के समय तक ईसा की आठवीं शताब्दी तक, अलंकारों की संख्या ५२ से अधिक नहीं बढ़ सकी, तथापि दण्डी आदि के द्वारा विषय का विवेचन क्रमशः विस्तृत अधिकाधिक स्पष्ट किया गया है, यह क्रम विकास का विशेषतः परिचायक है।

महत्वपूर्ण विकासकाल

ईसा की आठवीं शताब्दी के अनन्तर और चन्द्रालोक-प्रणेता पीयूष-वर्ष जयदेव के पूर्व अर्थात् लगभग १२वीं शताब्दी तक की चार शताब्दी अलंकारों के क्रम-विकास का सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण काल है। इस काल में हमको रुद्रट, भोज, मम्मट और रुय्यक ये चार उल्लेखनीय महान् आलंकारिक आचार्य उपलब्ध होते हैं। इनके द्वारा अलंकारों के क्रम-विकास पर बहुत कुछ चमत्कारपूर्ण प्रकाश डाला गया है। अलंकारों की संख्या इन आचार्यों के समय में १०३ तक पहुँच गई, और साथ ही साथ विषय-विवेचन भी अधिकाधिक सूक्ष्म और गम्भीर होता चला गया। सत्य तो यह है कि श्रीभरतमुनि द्वारा स्थापित और भामह आदि द्वारा पोषित अलंकार-सम्प्रदाय को इन चारों आचार्यों ने शाणोंत्तीर्ण क्रिया द्वारा परिष्कृत और एक विशेष आकर्षक स्थान पर स्थापित करके चमत्कृत कर दिया।

विकास का उत्तर-काल

ईसा की १३वीं शताब्दी से लगभग १७वीं शताब्दी तक अलंकारों के क्रम-विकास का उत्तर या अन्तिम काल है। इस काल में सर्वप्रथम जयदेव के चन्द्रालोक में ऐसे १६ नवीन अलंकार दृष्टिगत होते हैं जिनका उल्लेख जयदेव के पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा नहीं किया गया है। जयदेव के बाद ईसा

की १४वीं शताब्दी में विश्वनाथ के साहित्य-दर्पणकारों का विशद विवेचन मिलता है।

इसके बाद १७वीं शताब्दी में अप्पय दीक्षित के कुवलयानन्द में १७ अलंकार जयदेव के चन्द्रालोक से अधिक मिलते हैं। अप्पय दीक्षित तक अलंकारों की संख्या १३३ तक पहुँच चुकी थी।

पण्डितराज जगन्नाथ के रसगंगाधर में अलंकारों की जो आलोचनात्मक विवेचना है उससे अलंकार-साहित्य के क्रम-विकास का बहुत कुछ पता चलता है। ईसा की १७वीं शताब्दी में लिखा गया पण्डितराज जगन्नाथ का रसगंगाधर ही अलंकारशास्त्र का अन्तिम-ग्रन्थ है। इस समय तक विभिन्न आचार्यों के निरूपित अलंकारों की संख्या १८० से भी अधिक पहुँच गई थी।

पण्डितराज के पश्चात् संस्कृत साहित्योद्यान को अलंकृत करके उसमें मनोरञ्जकता की अभिवृद्धि करनेवाला कोई सुचतुर मालाकार उपलब्ध नहीं होता।

हिन्दी में अलङ्कार ग्रन्थ

हिन्दी भाषा में अलंकार-विषयक अनेक ग्रंथ लिखे गये हैं। जिनमें से कुछ ही ग्रन्थ मुद्रित हुए हैं। सुप्रसिद्ध कवियों के मुद्रित ग्रन्थों के विषय में संक्षिप्त आलोचनात्मक दिग्दर्शन काव्यकल्पद्रुम के तृतीय संस्करण के द्वितीय भाग 'अलंकार मञ्जरी' की भूमिका में कराया गया है, हिन्दी के सभी अलंकार ग्रन्थ यद्यपि संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर ही लिखे गये हैं किन्तु अलंकार का विषय अत्यन्त जटिल है और इस विषय पर संस्कृत ग्रन्थों में बड़ी बारीकी के साथ मनोवैज्ञानिक गम्भीर विवेचन किया गया है। हिन्दी के प्राचीन आचार्य अत्यन्त प्रतिभाशाली होते हुए भी उन्होंने अपना अधिक लक्ष्य काव्य की प्रौढ़ रचना पर ही रक्खा है, न कि विषय को स्वयं समझने या दूसरे को समझाने पर। अतएव ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न विद्वानों द्वारा जैसे ग्रन्थ लिखे जाने चाहिए थे, वैसे ग्रन्थ नहीं लिखे गये। आश्चर्य तो यह है कि

कुछ आधुनिक लेखक महाशय तो ग्रन्थ-प्रणयन के विषय में अपने गम्भीर उत्तरदायित्व का पालन भी नहीं करते हैं—कहीं-कहीं तो विषय क्या है और हम लिख क्या रहे हैं इसके समझने में भी त्रुटि देखी जाती है। आशा है कि इस विषय का अध्ययन करने वाले ग्रन्थकार और साहित्यशास्त्र के विद्यार्थीगण भविष्य में विशेष सतर्कता से काम लेंगे।

प्रस्तुत संस्करण के विषय में कुछ शब्द

हमारे "काव्यकल्पद्रुम" का तृतीय संस्करण दो भागों में—रसमञ्जरी और अलंकारमञ्जरी के नाम से मुद्रित हो चुका है। अब हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षा-समिति के अनुरोध से यह 'अलंकारमञ्जरी' का संक्षिप्त संस्करण लिखा गया है। इसको मध्यमा के विद्यार्थियों के लिए सुगम एवं उपयोगी बनाने की यथासाध्य चेष्टा की गई है, अन्य उपयोगी विषयों के साथ प्रत्येक अलंकार के नामार्थ का स्पष्टीकरण भी किया गया है। सभी अलंकारों के नाम सार्थक हैं। जिस अलंकार में जिस प्रकार का चमत्कार-विशेष है, उसको लक्ष्य में रखकर अलंकारों के नाम निर्दिष्ट किये गये हैं। अतः नामार्थ के स्पष्टीकरण द्वारा पाठकों को प्रत्येक अलंकार का स्थूल रूप ज्ञात हो जाने से बड़ी सुविधा होगी। इसके अतिरिक्त बहुत-से अलंकारों के विषय में संस्कृत के आचार्यों का मतभेद है, वह भी प्रसंगानुसार दिखाया गया है।

उदाहृत पद्यों के विषय में यहाँ प्रसंगगत यह सूचित किया जाना भी आवश्यक है कि जो उदाहरण अन्य ग्रन्थों से लिये गये हैं उन पर इनवरटेड कामा अर्थात् पद्य के आदि और अन्त में " " ऐसे चिह्न लगा दिये गये हैं। जिन पद्यों पर ये चिह्न नहीं हैं, वे इस लेखक की रचना के हैं, जिनमें संस्कृत ग्रन्थों से अनुवादित भी हैं। सम्भव है कि लेखक की रचना के उदाहृत पद्यों में कुछ पद्य ऐसे भी हों जिनके साथ प्राचीन हिन्दी ग्रन्थों के पद्यों का भाव साम्य हो, उन्हें देखकर सहसा यह धारणा हो सकती है कि लेखक द्वारा प्राचीन हिन्दी ग्रन्थों के पद्यों का भावापहरण किया गया है। किन्तु

इस कार्य को यह लेखक अत्यन्त घृणास्पद समझता है। वस्तुतः ऐसे भाव-साम्य का कारण केवल यही हो सकता है कि जिस संस्कृत ग्रन्थ के पद्य का अनुवाद करके इस ग्रंथ में लिखा गया है, उसी पद्य का अनुवाद हिन्दी के किसी प्राचीन ग्रन्थकार ने भी करके अपने ग्रन्थ में लिखा होगा। ऐसी परिस्थिति में केवल भाव-साम्य ही क्यों, किसी अंश में शब्द-साम्य भी हो सकता है।

प्राचीन ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ आधुनिक अलंकार ग्रन्थों के उदाहृत पद्यों और गद्यात्मक लेखों के साथ भी इस ग्रन्थ के गद्य पद्यों में केवल भाव-साम्य ही नहीं, अधिकांश में अविकल शब्दसाम्य भी अवश्य दृष्टिगत होगा। इसका कारण यह है कि हमारे अलंकार प्रकाश और काव्यकल्पद्रुम (प्रस्तुत संस्करण के पूर्व संस्करण) के बाद अलंकार विषय के जो हिन्दी में अन्य लेखकों द्वारा ग्रन्थ लिखे गये हैं प्रायः उनमें बहुत कुछ सामग्री लेखक के उक्त दोनों ग्रन्थों से ली गई है। कुछ लेखकों ने तो उक्त दोनों ग्रन्थों के विवेचनात्मक गद्य लेखों और उदाहृत पद्यों को कहीं-कहीं कुछ परिवर्तित रूप में और कहीं अविकल रूप में ज्यों के त्यों अपने ग्रन्थों में रख दिये हैं। और उनके नीचे अलंकार प्रकाश या काव्यकल्पद्रुम का नामोल्लेख न करके, अर्थात् अवतरण रूप से उद्धृत न करके, उनका अपनी निजी सम्पति के समान उपयोग किया है।

इस उल्लेख का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि इन विद्वान् लेखकों ने ग्रन्थों में हमारे अलंकार-प्रकाश और काव्यकल्पद्रुम की सामग्री का उपयोग क्यों किया। वास्तव में ग्रन्थ लिखने की सफलता तभी है, जब अन्य व्यक्तियों को उसके द्वारा कुछ लाभ प्राप्त हो। किन्तु जिस ग्रन्थ की सामग्री ली जाय उसका नामोल्लेख किया जाना तो उचित और आवश्यक है। अन्यथा कालान्तर में यह भ्रम हो सकता है कि किसने किस ग्रन्थ से सामग्री ली है। अतएव यहां इस उल्लेख का तात्पर्य यही है कि यह संस्करण अब उन ग्रन्थों के बाद में प्रकाशित हो रहा है—अतएव कालान्तर में इस ग्रन्थ के लेखक पर प्रस्तुत उन ग्रन्थों से अपहरण का दोषारोपण न

किया जाय। विद्वान् आलोचक इस बात पर भी भली-भाँति ध्यान रखें। अस्तु।

विनीत निवेदन

सबसे प्रथम यहाँ हिन्दी साहित्य सम्मेलन के विद्वान् अधिकारियों के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। जिन्होंने हमारे ग्रन्थ को प्रारंभ ही से—जब कि अलंकार प्रकाश के नाम से इसका प्रथम संस्करण मुद्रित हुआ था, अपने परीक्षा-ग्रन्थों में निर्वाचित करके मुझे उत्साहित किया है। उसी उत्साह के बल से आज हमारा वह ग्रन्थ काव्य-कल्पद्रुम के नाम से ऐसी उन्नत अवस्था को प्राप्त हो सका है।

अलंकार जैसे अत्यन्त जटिल और विवाद-ग्रस्त विषय पर आलोचनात्मक विवेचन में सफलता प्राप्त करना इस लेखक जैसे अल्पज्ञ साधारण व्यक्ति के लिए सर्वथा असम्भव है। अतएव इस ग्रन्थ में अनिवार्य रूप से अनेक त्रुटियों का होना स्वाभाविक है। आशा है सभी त्रुटियों के विषय में काव्य-मर्मज्ञ गुणग्राही उदारचेता सहृदयजन निम्नलिखित उक्ति पर ध्यान देते हुए क्षमा प्रदान करेंगे—

"न प्राग्ग्रन्थकृतां यशोधिगतये नापिज्ञता ख्यापये,
स्फूजद्बुद्धिजुषां न चापि विदुषां सत्प्रीतिविस्फीतये।
प्रक्रान्तोऽयमुपक्रमः खलु मया किं तद्व्यंगध्व्र्यक्रमं,
स्वस्यानुस्मृतये जडोपकृतये चेतो विनोदाय च।"

(काव्यप्रकाश के टीकाकार माणिक्यचन्द्र)

चैत्र शु० १ विक्रमाब्द
१९९४

विनीत
कन्हैयालाल पोद्दार

विषयानुक्रमणिका

प्रथम परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेद

संक्षिप्त अलङ्कार-मंजरी

प्रथम परिच्छेद

मंगलाचरण

स्मरणमात्र से तरुणातप को कर करुणा हरता निःशेष,
जिसके निकट चमत्कृत रहतीं अगणित चपलाएँ सविशेष।
अखिल विश्व निज कृपा-वृष्टि से आप्यायित करता निष्काम,
वही सतत इस कल्पद्रुम को सफल करें अभिनव घनश्याम।

अलङ्कार

'अलंकरोतीति अलंकारः' अलंकार पद में 'अलं' और 'कार' दो शब्द हैं। इनका अर्थ शोभा करने वाला। अलंकार काव्य के वाह्य शोभाकारक धर्म हैं, अतः इनकी अलंकार संज्ञा है।

आचार्य दण्डी ने अलंकारों को काव्य के धर्म बतलाये हैं और आचार्य वामन ने गुणों को ही काव्य के शोभाकारक धर्म बतलाये हैं। अतएव आचार्य मम्मट ने गुण और अलंकार का पृथक्करण करते हुए गुणों को काव्य के साक्षात् धर्म और अलंकारों को काव्य के अंगभूत शब्द और अर्थ के शोभाकारक धर्म कहकर गुण और अलंकारों का विषय विभाजन कर दिया है।

अलङ्कारों का शब्द और अर्थगत विभाग

अलंकार प्रधानतः दो भागों में विभक्त हैं। शब्दालंकार और अर्थालंकार। शब्द को चमत्कृत करने वाले अनुप्रास आदि अलंकार शब्द के आश्रित रहते हैं, अतः वे शब्दालंकार कहे जाते हैं। अर्थ को चमत्कृत करने

वाले उपमा आदि अलंकार अर्थ के आश्रित रहते हैं अतः वे अर्थालंकार कहे जाते हैं। और जो अलंकार शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित रहकर दोनों को चमत्कृत करते हैं, वे उभयालंकार कहे जाते हैं। अलंकारों का शब्द और अर्थगत विभाजन अन्वय[1] और व्यतिरेक[2] पर निर्भर है। अर्थात् जो अलंकार किसी विशेष शब्द की स्थिति रहने पर ही रह सकता है और उस शब्द के स्थान पर उसी अर्थ वाला दूसरा शब्द रहने पर नहीं रह सकता, वह शब्दालंकार है। जो अलंकार शब्दाश्रित नहीं रहता अर्थात् जिन शब्दों के प्रयोग द्वारा किसी अलंकार की स्थिति रहती हो, यदि उन शब्दों के स्थान पर उसी अर्थ वाले दूसरे शब्द रख देने पर भी उस अलंकार की स्थिति रह सकती हो, वह अर्थालंकार है।

शब्दालंकार

(१) वक्रोक्ति अलंकार

किसी के कहे हुए वाक्य का किसी अन्य व्यक्ति द्वारा–श्लेष से अथवा काकु-उक्ति से––अन्य अर्थ कल्पना किये जाने को वक्रोक्ति अलंकार कहते हैं।

वक्रोक्ति का अर्थ है––वक्र उक्ति अर्थात् वक्ता ने जिस अभिप्राय से जो वाक्य कहा हो, उसका श्रोता द्वारा भिन्न अर्थ कल्पना करके उत्तर दिया जाना। भिन्न अर्थ की कल्पना दो प्रकार से हो सकती है––श्लेष द्वारा और 'काकु' द्वारा। अतः वक्रोक्ति के दो भेद हैं––श्लेष-वक्रोक्ति और काकु-वक्रोक्ति।

---

१ कारण के रहने पर कार्य का अवश्य रहना 'अन्वय' है अर्थात् जिसके रहने पर जिसकी स्थिति निर्भर रहती है उसे अन्वय कहते हैं।

२ कारण के अभाव में कार्य का अभाव होना व्यतिरेक है। अर्थात् जिसके न होने पर जिसकी स्थिति नहीं रहती उसे व्यतिरेक कहते हैं। जैसे–दण्ड और चाक के न होने पर घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

श्लेष-वक्रोक्ति

वक्ता के वाक्य का श्लिष्ट शब्द के श्लेषार्थ से अन्य द्वारा जहाँ भिन्नार्थ कल्पना किया जाता है, वहाँ श्लेष-वक्रोक्ति होती है।

जिस शब्द या पद के एक से अधिक अर्थ होते हैं उसको श्लिष्ट शब्द या श्लिष्ट पद कहते हैं। श्लिष्ट शब्द या पद कहीं भंग होकर और कहीं पूरे शब्द या पद का भिन्नार्थ किया जाता है।

पद-भंग श्लेष-वक्रोक्ति

अयि गौरवशालिनि ! मानिनि ! आज
सुधास्मित क्यों बरसाती नहीं ?
निज-कामिनि को प्रिय ! गौ,[1] अवशा[2]
अलिनी[3] न कभी कहि जाती कहीं।
यह कौशलता[4] भवदीय प्रिये !
पर दर्भ-लता[5] न दिखाती यहीं,
मुददायक हों गिरिजा प्रिय से
यों विनोद में मोद बढ़ाती वहीं।

श्री शंकर-पार्वती के इस क्रीड़ालाप में 'गौरवशालिनि' सम्बोधन पद को पार्वती जी ने गौ, अवशा और अलिनी—इस प्रकार भंग करके श्लेष द्वारा अन्यार्थ कल्पना किया है। अतः पद भंग श्लेष वक्रोक्ति है।

'राम सप्रेम कहेउ मुनि पाहीं।
नाथ कहिय हम किहि मग जाहीं॥
मुनि मन विहँसि राम सन कहहीं।
सुगम सकल मग तुम्ह कहँ अहहीं॥

---

१ गाय। २ किसी के वश में न रहने वाली, स्वतन्त्र। ३ भौंरे की मादा। ४ चातुर्य। ५ डाभ की लता।

श्री रघुनाथ जी ने भारद्वाज मुनि से केवल वन को जाने का मग (मार्ग) पूछा था। भारद्वाज जी ने 'मग (मार्ग) शब्द का अन्यार्थ (व्यापक अर्थ) श्लेष द्वारा कल्पना करके उत्तर दिया है।'

को तुम ? हैं घनश्याम हम, तो बरसौ कित जाय,
नहिं मनमोहन हैं प्रिये ! फिर क्यों पकरत पाँय।

यहाँ श्रीकृष्ण द्वारा कहे हुए अपने नाम घनश्याम और मनमोहन पदों को मानवती राधिकाजी ने 'मेघ' और 'मन को मोहनेवाला' ये अन्यार्थ कल्पना किये हैं।

काकु-वक्रोक्ति

जहाँ 'काकु' उक्ति में अन्य द्वारा अन्यार्थ कल्पना किया जाता है वहाँ 'काकु-वक्रोक्ति' होती है।

'काकु' एक विशेष प्रकार की कण्ठ-ध्वनि होती है।

"मन्द-मन्द मारुत बहै री चहुँ ओरन तें,
मोरन के सोरन अपार छबि छायँगे।
चारों ओर चपला चमकै चित चोर लेत,
दादुर ददेरी देत आनँद बढ़ायँगे।
बरषा बिलोकि वीर! बरसे बधूटी बृन्द,
बोलत पपीहा पीव पीव पीव मन भायँगे।
"वल्लभ" विचारि हिय कहुरी सयानी आली !
ऐसे समै नाथ परदेस तें न आयँगे॥"

यहाँ–'ऐसे समैं नाथ परदेस तें न आयँगे' यह काकु उक्ति है–इस वाक्य में नायिका ने यह कहा कि 'नायक न आयँगे' किन्तु सखी द्वारा इसी वाक्य का काकु से अन्यार्थ यही कल्पना करके यह उत्तर दिया गया है कि 'नायक क्यों न आवेंगे– अवश्य आवेंगे।

विष - सानेहू सहि सकैं दुसह बान नर-धीर,
पुनि न अकारन खलन के कटुवचनन की पीर।

वक्ता ने कहा है कि "धीर पुरुष विषाक्त वाण सहन कर सकते हैं पर खलों के कटु वाक्य नहीं सहन कर सकते।" इस वाक्य का अन्य द्वारा यह अन्यार्थ कल्पना किया गया है कि जब धीर पुरुष विषाक्त वाण भी सहन कर सकते हैं, फिर दुर्जनों के कटु वाक्य क्यों नहीं सहन कर सकते? अर्थात् वे भी सहन कर सकते हैं।

(२) अनुप्रास अलङ्कार

वर्णों के साम्य को अनुप्रास कहते हैं

'अनुप्रास' पद 'अनु', 'प्र' और 'आस' से मिलकर बना है। 'अनु' का अर्थ है बार-बार, 'प्र' का अर्थ है प्रकर्ष और 'आस' का अर्थ है न्यास (रखना)। वर्णों का (रस-भाव आदि के अनुकूल) बार-बार प्रकर्षता[1] से–पास-पास में रक्खा जाना। 'वर्णों के साम्य' कहने का अभिप्राय यह है कि स्वर और वर्ण दोनों के साम्य में तो अधिक चमत्कार होने के कारण अनुप्रास होता ही है। किन्तु स्वरों की समानता न होने पर भी केवल वर्णों के साम्य में अनुप्रास हो सकता है।

अनुप्रास के प्रधान दो भेद हैं–वर्णानुप्रास और शब्दानुप्रास। वर्णानुप्रास में निरर्थक वर्णों की आवृत्ति होती है और शब्दानुप्रास[2] में सार्थक वर्णों की आवृत्ति होती है। इनके भेद इस प्रकार हैं—

---

१ 'प्रकर्षता' का अर्थ यहाँ वर्णों के प्रयोग में अन्तर न होकर––अव्यवधान से (एक के समीप दूसरा––पास-पास में) वर्णों की आवृत्ति होना है।

२ शब्दानुप्रास को लाटानुप्रास भी कहते हैं।
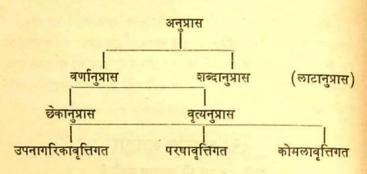
छेकानुप्रास

अनेक वर्णों के एक बार सादृश्य होने को छेकानुप्रास कहते हैं।

छेक का अर्थ है चतुर। चतुर जनों के प्रिय होने के कारण इसे छेकानुप्रास कहते हैं। 'रस सर' ऐसे प्रयोगों में छेकानुप्रास नहीं हो सकता— छेकानुप्रास में वर्णों का उसी क्रम से प्रयोग होना चाहिए, जैसे—सर सर"[1]।

उदाहरण—

मन्द मन्द चलि अलिन को करत गन्ध मद अन्ध,
कावेरी - वारी - पवन पावन परम सुछन्द !

यहाँ 'गन्ध' और 'अन्ध' में प्रयुक्त वर्ण 'न' और 'ध' की, 'कावेरी' और 'वारी' में असंयुक्त 'व' और 'र' की और 'पावन पवन' में 'प' 'व' 'न' की एक बार आवृत्ति है।

'नेम व्रत संजम के पींजरे परै को जब
लाजकुल - कानि प्रतिबंधहिं निवारि चुकीं,
कौन गुन गौरव को लंगर लगावै जब
सुधि बुधि ही कौ भार टेक करि टारि चुकीं।

---

१ 'स्वरूपतः क्रमतश्च' साहित्यदर्पण परिच्छेद १०। २ वृत्ति

जोग - 'रतनाकर' मैं साँस घूँटि बूड़ै कौन
ऊधौ ! हम सूधौ यह बानक विचारि चुकीं,
मुक्ति - मुकता कौ मोल माल ही कहाँ है जब
मोहन लला पै मन - मानिक ही वारि चुकीं ॥'

यहाँ चतुर्थ चरण में 'मुक्ति-मुकता' में 'म' और 'म' की, 'मोल माला' में 'म' और 'ल' की और 'मनमानिक' में 'म' और 'न' की आवृत्ति है।

एक वर्ण के एक बार सादृश्य में छेकानुप्रास नहीं होता[1]। साहित्य-दर्पण आदि में एक बार सादृश्य में वृत्यनुप्रास माना गया है।

वृत्यनुप्रास

वृत्ति-गत अनेक वर्णों को अथवा एक वर्ण की अधिक बार आवृत्ति किये जाने को वृत्यनुप्रास कहते हैं।

वृत्ति—भिन्न-भिन्न रसों के वर्णन में भिन्न-भिन्न वर्णों के प्रयोग करने का नियम है। ऐसे नियम-बद्ध वर्णों की रचना को वृत्ति कहते हैं। वृत्ति तीन प्रकार की होती हैं—उपनागरिका, परुषा और कोमला। आचार्य वामन आदि ने इन वृत्तियों को क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पाँचाली के नाम से लिखा है।

उपनागरिका वृत्ति

माधुर्य गुण की व्यंजना करनेवाले वर्णों की रचना को उपनागरिका वृत्ति कहते हैं।

---

[1] "अनेकस्मिन्निति वचनाच्च असकृदेवंविधिरूपोपनिबन्धे सति छेकानुप्रासता नतु सकृदिति मन्तव्यम्"—उद्भटाचार्य काव्यालंकार सारसंग्रह वृत्ति पृ० बाम्बेसीरीज।

माधुर्य गुण का अधिक विवेचन काव्यकल्पद्रुम (रस-मंजरी) प्रथम भाग के छठे स्तवक में किया गया है।

उपनागरिका वृत्ति में ट, ठ, ड, ढ को छोड़ कर मधुर एवं अनुस्वार सहित और समास रहित अथवा छोटे समास की रचना होती है।

मीन -मद -गंजन मान भंजन हैं खंजन,
त्यों चंचल अनन्त हैं निकाई के दौना द्वै;
अंजन सुहातु है कुरंग हू लजातु चित-
रंजन दिखातु हैं अनंग के खिलौना द्वै।
भूषित हैं सलौना जुग टौना से बीच माँहि
श्याम रंग विन्दु त्यों गुलाबी रंग कौना द्वै,
मेरे जान आनन -सरोज -पाँखुरी हैं दृग,
खेलत तहाँ हैं मंजु मानी भृंग छौना द्वै॥

यहाँ म, न, ज आदि वर्णों की अनेक बार आवृत्ति है।

"रस सिंगार मज्जन किये खंजनु भंजनु दैन,
अंजनु रंजनु हूँ बिना खंजन गंजन, नैन॥

यहाँ ज और न की अनेक बार आवृत्ति है।

एक वर्ण की आवृत्ति में उपनागरिकावृत्ति-गत वृत्यनुप्रास—

चन्दन चन्दन चाँदनी चन्दसाल नव बाल,
नित ही चित चाहतु चतुर ये निदाघ के काल॥

यहाँ 'च' वर्ण की अनेक बार आवृत्ति है।

परुषावृत्ति

'ओज' गुण की व्यंजना करने वाले वर्णों की रचना को परुषावृत्ति कहते हैं।

इसमें ट, ठ, ड, ढ वर्णों की अधिकता रेफ सहित संयुक्ताक्षर और द्वित्व वर्णों की कठोर रचना होती है[1]।

---

१ ओज गुण का अधिक विवेचन काव्यकल्पद्रुम (रस-मंजरी) प्रथम भाग के छठे स्तवक में किया गया है।

"चिग्घत दिग्गज दिग्ध सिग्ध भुअ चाल चलत दल,
कच्छ अच्छ खल मलत सफल उच्छलत जलधि जल,
टुट्टत वन फुट्टत पतार फट्टत फनिंद फन,
छुट्टत गढ़ जुट्टत गयंद हुट्टत नरिंद वन,
"गंध्रवनृपति गल-गज्जि इमि धुनि निसान लज्जित गगनु।
अति त्रसित सुरासुर नर सकल सुक्रद्धितरुद्र जुंगत जनु॥"

यहाँ भी ओजगुण व्यंजन द्वित्व वर्णों वाली कठोर रचना है।

"तौ लगि या मन-सदन में हरि आवैं किहि बाट,
विकट जुटे जौ लगि निपट खुलै न कपट कपाट।"

यहाँ उत्तरार्ध में ओजगुण व्यंजक टकार की अनेक बार आवृत्ति है।

कोमलावृत्ति--

माधुर्य और ओजगुण-व्यंजक वर्णों के अतिरिक्त शेष वर्णों की रचना को कोमलावृत्ति कहते हैं।

"फल - फूलों से हैं लदी डालियाँ मेरी,
वे हरी पत्तलें भरी थालियाँ मेरी,
मुनि - बालाएँ हैं यहाँ आलियाँ मेरी,
तटनी की लहरें और तालियाँ मेरी,
क्रीड़ा - सामग्री बनी स्वयं निज छाया।
मेरी कुटिया में राज - भवन मन भाया।"

यहाँ प्रायः माधुर्य और ओजगुण-व्यंजक वर्णों की रचना है। ल, य, र आदि की कई बार आवृत्ति है।

"ख्याल ही की खोल में अखिल ख्याल खेल खेल
गाफिल है भूल्यौ दुख दोष की खुसाली तैं,
लाख लाख भाँति अवलाखि लखे लाख
अरु अलख लख्यौ न लखी लालन की लाली तैं।

प्रभू प्रभु 'देव' प्रभु सों न पल पाली प्रीति,
दै दै करताली ना रिझायो वनमाली तैं,
झूठी झिलमिल की झलक ही में भूल्यो जल-
मल की पखाल खल, खाली खाल पाली तैं।।"

यहाँ प्राय: माधुर्य और ओजगुण -व्यंजक वर्णों को छोड़कर शेष वर्णों की अधिकता है और ख, ल, प, अ आदि वर्णों की कई वार आवृत्ति है।

लाटानुप्रास

शब्द और अर्थ दोनों की आवृत्ति में तात्पर्य की भिन्नता होने को लाटानुप्रास कहते हैं।

लाटानुप्रास में शब्द और अर्थ की पुनरुक्ति होती है। केवल तात्पर्य (अन्वय) में भिन्नता रहती है। इसमें शब्द या पदों की आवृत्ति होने के कारण इनकी शब्दानुप्रास या पदानुप्रास संज्ञा है। यह पाँच प्रकार का होता है।

'यमक' अलंकार में भी शब्द या पदों की आवृत्ति होती है, किन्तु यमक में जिन शब्दों की आवृत्ति होती है उनका अर्थ भिन्न-भिन्न होता है।

बहुत पदों की आवृत्ति

वे घर में वन ही सदा जो ह्वै बन्धु - वियोग,
वे घर हैं वन ही सदा जो नहिं बन्धु-वियोग।

पूर्वार्द्ध में जो पद हैं वे ही उत्तरार्द्ध में हैं। उनका दोनों ही स्थान पर एक ही अर्थ है—केवल तात्पर्य भिन्न है। पूर्वार्द्ध में बन्धुजनों के वियोग होने पर घर को वन और उत्तरार्द्ध में बन्धुजनों के समीप रहने पर वन को ही घर कहा गया है।

"सूत - सिरताज[१] ! मद्रराज[२] ! हय साज आज,
अस्त्रन समाज के इलाज को करैया मैं।

---

१ सारथियों में शिरोमणि। २ मद्र देश का राजा शल्य।

गेरें गजराजी[1] गजराज सम गाज गाज,
गदावाज-गाज[2] के इलाज को करैया मैं।
वैनतेय[3] आज कावेद्रय से अरीन काज,
पत्थ रूप बाज[4] के इलाज को करैया मैं।
धर्मराज-राज के इलाज को करैया कुरु—
राज-हित राज के इलाज को करैया मैं।"

भारत-युद्ध में अपने सारथी शल्य के प्रति कर्ण के इन वाक्यों के 'इलाज को करैया मैं' इस वाक्य का, जिसमें शब्द और अर्थ भिन्न नहीं हैं, आवृत्ति है। अन्वय (सम्बन्ध) पृथक्-पृथक् होने के कारण तात्पर्य मात्र में भिन्नता है।

एक पद की आवृत्ति--

कमलनयन ! आनँद-दयन! दरन सरन-जन पीर,
करि करुना करुनायतन! नाथ हरहु ! भय भीर।

यहाँ एकार्थक 'करुणा' पद की आवृत्ति है। पहिले करुणा का 'करि' के साथ और दूसरे 'करुणा' का 'आयतन' के साथ सम्बन्ध है।

(३) यमक अलंकार

निरर्थक वर्णों की अथवा भिन्न-भिन्न अर्थ वाले सार्थक वर्णों की क्रमशः आवृत्ति या उनके पुनः श्रवण को यमक कहते हैं।

'यमक' में स्वर सहित निरर्थक और सार्थक दोनों प्रकार के वर्णों की आवृत्ति होती है।[5] यमक में वर्णों का प्रयोग तीन प्रकार से होता है—

(१) सर्वत्र अर्थात् जितनी बार आवृत्ति हो वह निरर्थक वर्णों की हो।

---

१ हाथियों की पंक्ति। २ गदा से लड़नेवाले भीमसेन की गर्जना। ३ शत्रु रूप सर्पों के लिए गरुड़ रूप। ४ अर्जुन रूप बाज पक्षी।

५ यमक के सम्बन्ध में जहाँ-जहाँ 'आवृत्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है वहाँ-वहाँ इसके साथ पुनः श्रवण ही समझना चाहिए।

(२) एक बार निरर्थक वर्णों की और दूसरी बार सार्थक (अर्थवाले) वर्णों की आवृत्ति हो।

(३) सर्वत्र सार्थक (अर्थ वाले) वर्णों की आवृत्ति हो। जहाँ सार्थक वर्णों की आवृत्ति में यमक होता है वहाँ भिन्न-भिन्न अर्थ वाले वर्णों की आवृत्ति होती है, न कि एकार्थक वर्णों की।

लक्षण में 'क्रमशः इसलिए कहा गया है कि यमक में वर्णों की आवृत्ति उसी क्रम से होनी चाहिए, जैसे—'सर सर। जहाँ वर्णों की आवृत्ति क्रमशः नहीं होती है जैसे 'सर रस' वहाँ यमक नहीं होता।

'यमक' और 'चित्र' अलंकार में 'ड' और 'ल', तथा 'व' और 'ब', एवं 'ल' और 'र' वर्ण अभिन्न समझे जाते हैं। जैसे—'भुजलतां जडतामबलाजनः' इसमें एक वार 'जलता' और दूसरी बार 'जडता' का प्रयोग है। पर इनकी ध्वनि एक समान सुनी जाती है। इसलिए लक्षण में 'पुनः श्रवण' कहा गया है अर्थात् वर्णों की आवृत्ति के सिवा जहाँ आवृत्ति न होकर वर्णों का समान श्रवण होता है वहाँ भी यमक होता है।

यमक 'पदावृत्ति[१] और 'भागावृत्ति' दो प्रकार का होता है और इनके अनेक उपभेद होते हैं।

इनके कुछ उदाहरण—

अर्द्धपाद आवृत्ति संदष्टक यमक—

> मधुप-गुंजमनोहर गान है,सुमत रञ्जन दंत समान है।
> इ-लता -पवनाहत-पात ये सुमन रञ्जन हैं करताल वे ॥[२]

---

१ छन्द के चौथे विभाग को पाद कहते हैं। ऐसे पूरे पाद की आवृत्ति को पदावृत्ति कहते हैं। पाद के आधे विभाग की अथवा तीसरे या चौथे विभाग की या इससे भी छोटे विभाग की आवृत्ति को 'भागावृत्ति' या यमक कहते हैं।

२ सन्त वर्णन है। भौंरों की गूंज ही गान है, सुमन-रंजन (सुन्दर-पुष्प) ही गान के समय की दन्तावली है। वनलताओं के पत्तों का वायु

दूसरे पाद के प्रथमार्द्ध —'सुमन रञ्जन' की चौथे पाद के प्रथमार्द्ध में आवृत्ति है।

अर्द्ध भागावृत्तिः पुच्छ यमक—

स्फुट सरोजयुता गृह-वापिका जल विहंग-रवाकुल हो महा,
सरस नादवती मनभावनी सरसना युवती स्मित-सी बनी[१]।

तीसरे पाद के प्रथमार्द्ध—'सरसना' की चौथे पाद के प्रथमार्द्ध में आवृत्ति है।

"वर जीते सर-मैन[२] के ऐसे देखे मैं न,
हरिनी के[३] नैनान तें हरि ! नीके यह नैन"[४]

यहाँ भी तीसरे पाद के प्रथमार्द्ध 'हरि नीके' की चौथे पाद के प्रथमार्द्ध में आवृत्ति है।

अर्द्ध भागावृत्ति 'युग्मक' यमक—

सुमन चारु यही न अशोक के, सुमन-चाप-प्रदीपक है नये,
मधु-सुशोभित बौर रसाल भी, न मद-कारक हैं न रसाल ही।[५]

द्वारा जो संचालन है वही गायक के हाथों की सुमनरञ्जन (मनोहर) ताल है।

१ यह भी वसन्त का वर्णन है। वसन्त में खिले हुए कमलों से युक्त और जल-पक्षियों के मृदु मधुर शब्दों से व्याप्त घर में बनी हुई बावड़ी, सरस-नादवती (मधुर शब्दों वाली) सरसना (कटिभूषण कौंधनी पहिने हुए) मंद-हास्य-युक्त कामिनी के समान शोभित हो रही है।

२ काम के वाण। ३ मृगी के। ४ हे हरि ! उसके नेत्र नीके हैं।

५ केवल अशोक के सुमन चारु (सुन्दर फूल) ही सुमनचाप (कामदेव) को उद्दीपन नहीं करते हैं किन्तु वसन्त ऋतु में रसाल (आम्र) के रसाल (रसपूर्ण) बौर भी मद-कारक न होते हों सो नहीं।

प्रथम पाद के 'सुमनचा' की दूसरे पाद में और तीसरे पाद के 'रसाल' की चौथे पाद में आवृत्ति है।

पाद के तीसरे भाग की आवृत्ति 'पंक्ति' यमक—

मधु-विकसित हो नलिनी घनी मधुर-गन्धित पुष्कर्णी वनी,
मधु-पराग-बिलोमित हो महा मधु-पराग भरे स्थित हैं वहाँ[१]।

प्रथम पाद के आदि के तिहाई भाग 'मधु' की तीनों पादों के आदि भाग में आवृत्ति है।

भागावृत्ति आदिमध्य यमक—

सुमुखि के मुख के पद से बढ़े सम सुगन्धित पुष्प समूह ने,
मधुप-पुंज बुला मधु लालची बकुल आकुलआ उनने करी[२]

पाद के चौथाई भाग के दूसरे खण्ड 'कलुआ' की तीसरे खण्ड में आवृत्ति है।

दिवि-रमनी रमनीय कित है रति रति सम ही न,
हरि वनिता बनिताहि छिन मनमथ-मथ वस कीन[३]।

---

१ मधु (वसन्त) में पुष्करिणी (छोटी-छोटी तलइयां) कमलिनियों के मधुर गन्ध से सुगन्धित हो रही हैं और उनके मधु-लोभ के कारण आये हुए प्रमत्त भौंरे वहाँ उन पर बैठे हुए शोभित हैं।

२ सुमुखि (सुन्दर मुखवाली तरुणी) के मुख की मदिरा के कुल्ले से बढ़े हुए पुष्प-समूह ने मधु के लोभी मधुप पुञ्ज (भौंरों के समूह को बुला लिया)। उन्होंने आकर बकुल (मोरछली के वृक्ष) को आकुल (व्याप्त) कर लिया है।

३ भगवान् विष्णु द्वारा महादेवजी को मोहनी रूप दिखाने का वर्णन है। हरि (विष्णु) ने वनिता (स्त्री) का ऐसा रूप धारण करके कि जिसकी तुलना में दिविरमणी (अप्सरा) कोई वस्तु नहीं और रति (काम की स्त्री) भी रत्ती भर भी सम नहीं, मन्मथमथ (कामदेव को जीतने वाले महादेव जी) को अपने बस में कर लिया।

'रमनी' 'रति' 'वनिता' और 'मथ' की उन्हीं पादों के तीसरे भागों में आवृत्ति है।

'लै चुभकी चलि जात जित जित जल-केलि अधीर,
कीजतु केसरि-नीर से तिति तिति केसरि-नीर'[१]

तीसरे पाद के 'केसरिनीर' की चौथे पाद में आवृत्ति है।

(४) श्लेष अलंकार

श्लिष्ट-शब्दों से अनेक अर्थों का अभिधान (कथन) किये जाने को श्लेष कहते हैं।

श्लेष शब्द श्लिष धातु से बना है। श्लिष्ट का अर्थ है चिपकना या मिलना। श्लिष्ट शब्द में एक से अधिक अर्थ चिपटे रहते हैं, अतः जिस शब्द के एक से अधिक अर्थ होते हैं उसे श्लिष्ट शब्द कहते हैं। श्लिष्ट शब्द दो प्रकार के होते हैं—सभंग और अभंग। जिस पूरे शब्द के दो अर्थ होते हैं वह अभंग श्लिष्ट शब्द कहा जाता है। ऐसे शब्दों के प्रयोग द्वारा अभंग श्लेष होता है। जिसे पूरे शब्द का अर्थ और होता है और शब्द के भंग (खण्डित) करने का दूसरा अर्थ होता है वह सभंग-श्लिष्ट शब्द कहा जाता है। ऐसे शब्दों के प्रयोग में सभंग श्लेष होता है।

अभंग और सभंग श्लेषों में जहाँ दोनों अर्थों में (या जब दो से अधिक अर्थ हों उन सभी अर्थों में) प्रकृत[२] का वर्णन किया जाता है वहाँ प्रकृत मात्र आश्रित श्लेष कहा जाता है।

---

१ नायिका का जल-बिहार वर्णन है कि जहाँ-जहाँ वह (रमणी) जल में चुभकी लगाती है वहाँ-वहाँ 'केसरि-नीर' (नदी के पानी) 'केसर-नीर' अर्थात् केसर के रंग के हो जाते हैं।

२ जिसका वर्णन करना कवि को प्रधानतया अभीष्ट होता है उसे प्रकृत या प्रस्तुत वा प्राकरणिक अर्थ कहते हैं। प्रकृत या प्रस्तुत आदि का प्रयोग प्रायः उपमेय के लिए किया जाता है।

जहाँ सभी अर्थों में अप्रकृत[1] का वर्णन किया जाता है। वहाँ अप्रकृत मात्र आश्रित श्लेष कहा जाता है। और जहाँ एक अर्थ में प्रकृत का वर्णन और दूसरे अर्थ में या जहाँ एक से अधिक अंग हों वहाँ उन सभी में अप्रकृत का वर्णन होता है वहाँ प्रकृत अप्रकृत उभयाश्रित श्लेष कहा जाता है। श्लेष में विशेषण पद तो सर्वत्र श्लिष्ट होते हैं। किन्तु विशेष्य[2] पद कहीं श्लिष्ट और कहीं श्लिष्ट नहीं होते हैं और कहीं विशेषण और विशेष्य[3] दोनों ही श्लिष्ट होते हैं। श्लेष के भेद इस प्रकार हैं—

---
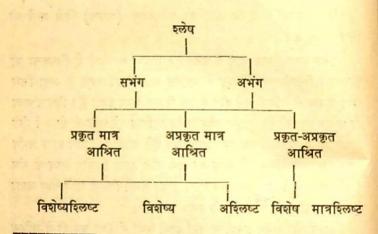
१ जिसका वर्णन किया जाना प्रधान न हो उसे अप्रकृत या अप्रस्तुत या अप्राकरणिक कहते हैं। अप्रकृत या अप्रस्तुत आदि का प्रयोग प्रायः उपमान के लिए किया जाता है।

२ विशेष्य उसे कहते हैं जिससे किसी वस्तु या व्यक्ति का बोध होता है। जैसे घर, मनुष्य आदि।

३ विशेषण उसे कहते हैं जिसके द्वारा विशेष्य के गुण या अवस्था का प्रकाश होता है। विशेषण प्रायः विशेष्य पद के पूर्व रहता है। जैसे—नया घर, गुणवान् मनुष्य इनमें 'नया' और 'गुणवान्' विशेषण हैं।

इसके अनुसार 'प्रकृत मात्र आश्रित' और 'अप्रकृत मात्र आश्रित' श्लेष में विशेष्य का श्लिष्ट होना नियत (अनिवार्य) नहीं अर्थात् कहीं विशेष्य श्लिष्ट होता है। किन्तु प्रकृत अप्रकृत उभयाश्रित श्लेष में विशेष्य श्लिष्ट नहीं हो सकता—केवल विशेषण ही श्लिष्ट होता है। क्योंकि जहाँ विशेष्य और विशेषण दोनों श्लिष्ट होते हैं वहाँ शब्द-शक्ति-मूला ध्वनि होती है न कि 'श्लेष' अलंकार। इसके अतिरिक्त प्रकृत अप्रकृत उभयाश्रित श्लेष में विशेषण मात्र की श्लिष्टता में प्रकृत और अप्रकृत (या प्रस्तुत अप्रस्तुत) दोनों विशेष्यों का भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कथन होना आवश्यक है। क्योंकि जहाँ केवल प्रकृत-विशेष्य का ही शब्द द्वारा कथन होता है वहाँ समासोक्ति अलंकार होता है न कि श्लेष 'समासोक्ति और 'श्लेष' में यही भेद है। 'श्लेष' अलंकार कहीं-कहीं प्रकृत अप्रकृत सम्बन्धरहित भी होता है। इनके कुछ उदाहरण—

प्रकृत मात्र आश्रित श्लिष्ट विशेष्य सभङ्ग श्लेष--

> '[1]है पूतनामारण में सुदक्ष, जघन्य काकोदर था विपक्ष,
> की किन्तु रक्षा उसकी दयालु,शरण्य ऐसे हैं कृपालु।

यहाँ राम और श्रीकृष्ण दोनों की स्तुति कवि को अभीष्ट होने के कारण दोनों ही प्रस्तुत हैं अतः प्रकृत-मात्र आश्रित है। 'पूतना-मारण' और 'काकोदर' पदों का भंग होकर दो अंग होते हैं अतः सभंग है। 'प्रभु' पद विशेष्य श्लिष्ट है। इसके श्रीराम और श्रीकृष्ण दोनों अर्थ हो सकते हैं।

---

१ श्री राम पक्ष में अर्थ---पूत-नामा पवित्र नामा है रण में सुदक्ष हैं काकोदर (इन्द्र के पुत्र जयन्त विपक्षी) की भी रक्षा करने वाले हैं, श्रीकृष्णपक्ष में अर्थ---पूतना-मारण---पूतना राक्षसी को मारने में चतुर काकोदर। कालीय सर्प जो विपक्षी था उसकी भी रक्षा करने वाले।

बारुनि के संयोग सों[१] अतुल राग[२] प्रकटाहिं,
बढ़त जात स्मर वेग अरु दिनमनि अस्त लखाहिं।

यहाँ कामदेव और सूर्य दोनों प्रस्तुतों का वर्णन है। विशेष्य पद 'स्मर' और 'दिनमनि' दोनों पृथक्-पृथक् शब्दों द्वारा कहे गये हैं।

अप्रकृत मात्र आश्रितश्लिष्ट-विशेष्य सभंगश्लेष का उदाहरण--

सोहत हरि-कर संग सों अतुल राग दिखराय[३],
तो मुख आगे अलि तऊ कमलाभा छिप जाय।

यहाँ मुख के उपनाम कहे जाने के कारण कमला (लक्ष्मी) और कमल दोनों अप्रस्तुत हैं। विशेष्य पद 'कमलाभा' श्लिष्ट है। इनका 'कमलाभा' और 'कमल-आभा' इस प्रकार आभा भंग होकर दो अर्थ होते हैं। और इसी दोहे को --

हरि-कर सों रमनीय अति अतुल राग जुत सोहि,
कमलरु कमला विगत छवि तो मुख आगे होहि।

इस प्रकार कर देने पर कमल और कमला दोनों विशेष्य पदों का पृथक्-पृथक् शब्दों द्वारा कथन हो जाने के कारण अश्लिष्ट विशेष्य का उदाहरण हो जाता है।

---

१ कामदेव के पक्ष में मदिरा का पान और सूर्य के पक्ष में वारुणी (पश्चिम दिशा)।

२ कामदेव के पक्ष में अत्यन्त अनुराग और सूर्य के पक्ष में अरुणता।

३ श्रीराधिकाजी के प्रति सखी की उक्ति है। आपकी मुख शोभा के आगे हरि (विष्णु) के हाथों के स्पर्श से अतुलराग (अनुराग) प्राप्त कमला (लक्ष्मी) की आभा (कांति) छिप जाती है। अथवा हरि (सूर्य) के कर (किरण) के स्पर्श से अधिक राग (रक्त) होने वाली कमल की आभा (कांति) छिप जाती है।

प्रकृत अप्रकृत उभयाश्रित सभंग श्लेष--

पृथुकार्तस्वर पात्र जहँ भूषित परिजन जानु,
तेरो अरु मेरो नृपति ! घर है एक समानु[1]।

इसमें कवि ने अपने घर का और राजगृह का वर्णन किया है। कवि से घर का वर्णन प्रस्तुत और राज-गृह का वर्णन अप्रस्तुत है।

प्रकृतमात्र आश्रित श्लिष्ट-विशेष्य अभंग श्लेष--

करन कलित है चक्र नित पीताम्बर छविचारु,
सेवक - जन - जड़ता हरन हरि! श्रिय करहु अपारु[2]।

यहाँ श्री विष्णु और सूर्य दोनों की स्थिति अभीष्ट है, अतः दोनों प्रस्तुत होने से प्रकृतमात्र आश्रित हैं। 'करन' आदि अभंग पदों के अर्थात् पूरे शब्दों के ही दो-दो अर्थ हैं न कि 'पूतनामारण 'आदि की तरह पदों का भंग होकर। अतः अभंग है। 'हरि' पद विशेष्य श्लिष्ट है--इसके विष्णु और सूर्य दो अर्थ हैं।

प्रकृत मात्र आश्रित अश्लिष्ट विशेष्य--

करन कलित है चक्र नित, पीताम्बर युत वेश,
सेवक-जन जड़ता हरैं माधव और दिनेश।

---

१ कवि की राजा के प्रति उक्ति है--आपके घर में पृथुकार्तस्वर (बहुत से सुवर्ण के) पात्र हैं, मेरे घर में पृथुकार्तस्वर पात्र हैं (बालक आर्तस्वर--क्षुधा पीड़ित दीनध्वनि युक्त हैं) आपके घर में परिजनों के कुटुम्ब के लोगों के शरीर भूषित (अलंकृत) हैं, मेरे घर में भी परिजन भूषित (पृथ्वी पर सोते) हैं।

२ करन (हाथों) में सुदर्शनचक्र लिए हुए पीताम्बर से शोभित सेवकजनों का अज्ञान हरनेवाले श्रीहरि (विष्णु)--अथवा करन (किरणों) से और कालचक्र से युत पीताम्बर (पीले आकाश) से शोभित, सेवकजनों की मूर्खता हरनेवाले हरि (श्री सूर्य) प्रचुर लक्ष्मी प्रदान करें।

इसमें माधव और दिनेश दोनों विशेष्य के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग है। अतः विशेष्य अश्लिष्ट है। और माधव तथा दिनेश दोनों ही वर्णनीय हैं।

अप्रकृत मात्र आश्रित श्लिष्ट विशेष्य अभंग श्लेष--

"कहा भयो जग में विदित भये उदित छवि लाल,
तो होठनि की रुचिर रुचि पावत नहीं प्रवाल।"

यहाँ विशेष्य 'प्रवाल' श्लिष्ट है इसमें मूंगा और वृक्ष के नवीन दल दो अर्थ हैं। ये दोनों अधर के उपनाम हैं अतः दोनों ही अप्रकृत हैं। 'प्रवाल' शब्द भंग न होकर दो अर्थ होते हैं अतः अभंग हैं।

अप्रकृत आश्रित अश्लिष्ट विशेष्य अभंग--

रहैं सिलीमुख सों विकल सदा वसत बन ऐन,
तिन कमलन अरु मृगन की छवि छीनत तब नैन।

इसमें कमल और मृग विशेष्यों के लिए पृथक्-पृथक् शब्दों का प्रयोग होने के कारण अश्लिष्ट विशेष्य है।

प्रकृत अप्रकृत उभयाश्रित अभंग श्लेष--

लघु[1] पुनि मलिन[2] स-पक्ष[3] गुनच्युत[4] ह्वै नर और सर, पर भेदन[5] में दक्ष भयदायक किहिं के न हों।

यहाँ उपमेय होने के कारण 'नर' प्रकृत हैं। उपनाम होने के कारण 'शर' अप्रकृत है। 'परभेदन में दक्ष' और 'गुनच्युत' आदि पदों का भंग न होकर दो अर्थ होते हैं, अतः अभंग है। 'नर' और 'शर' विशेष्यों के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग है, अतः अश्लिष्ट विशेष्य है।

---

१ नीच : वाण के अर्थ में छोटे। २ मलिन हृदय, वाण पक्ष में काले। ३ जिसके पक्षपात करनेवाले हों, वाण पक्ष में पंखवाले। ४ गुणों से हीन, वाण पक्ष में धनुष की डोर से छुटकर। ५ दूसरों में फूट डालने में चतुर, वाण पक्ष में दूसरों के अंगछेदन करने में समर्थ।

श्लेष शब्दालंकार है या अर्थालंकार ?

इस विषय में आचार्यों का मतभेद है। अलंकार-सूत्र के प्रणेता रुय्यक का मत है कि सभंग-श्लेष शब्दालंकार है और अभंग-श्लेष अर्थालंकार है।

आचार्य उद्‌भट ने सभंग को शब्द-श्लेष और अभंग को अर्थ-श्लेष बताकर भी दोनों को अर्थालंकार माना है।

आचार्य मम्मट ने अभंग और सभंग दोनों प्रकार के श्लेषों को शब्दालंकार माना है। उनका कहना है कि गुण, दोष और अलंकारों का शब्द और अर्थ-गत विभाग अन्वय और व्यतिरेक पर निर्भर है। अभंग श्लेष जहाँ अर्थ के आश्रित होगा वहीं अर्थालंकार माना जायगा—शब्दाश्रित होगा वहाँ नहीं। अर्थात् जहाँ शब्दाश्रित अभंग श्लेष होगा वहाँ शब्दालंकार ही माना जायगा। जैसे—'करनकलित......' (पृष्ठ २०) में 'कर' और 'पीताम्बर' आदि शब्दों के स्थान पर 'हाथ' और 'पीला वस्त्र' आदि पर्याय शब्द कर देने पर दो अर्थ नहीं हो सकते अतः यह अभंग-श्लेष शब्द श्लेष है। अभंगश्लेष अर्थालंकार वहाँ हो सकता है जहाँ शब्द परिवर्तन कर देने पर भी दो अर्थ बने रहते हैं। जैसे —

"लिए सुचाल विसाल सर स-मद सुरंग अबैन,
लोग कहैं बरने तुरंग मैं बरने तुम नैन।"

इसमें कामिनी के नेत्र और घोड़े का वर्णन है 'सुचाल' 'अबैन' के स्थान पर इसी अर्थ वाले दूसरे शब्द परिवर्तन कर देने पर भी दोनों अर्थ हो सकते हैं[१]।

श्लेष का विषय बहुत व्यापक है क्योंकि श्लेष की स्थिति बहुत से अलंकारों में रहती है—अतएव श्लेष का विषय बड़ा महत्त्वपूर्ण और विवाद ग्रस्त है।

---

१ इस विषय का विस्तृत स्पष्टीकरण काव्यकल्पद्रुम भाग २ अलंकार मंजरी पृ० ३४-३६ में देखिए।

कुछ [1]आचार्यों का मत है कि जहाँ श्लेष होता है, वहाँ कोई दूसरा अलंकार अवश्य रहता है—अन्य अलंकार से विविक्त (स्वतन्त्र) शुद्ध श्लेष का उदाहरण नहीं हो सकता।

आचार्य मम्मट मत को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि शुद्ध श्लेष के उदाहरण हो सकते हैं। 'श्लेष' शुद्ध भी होता है और अन्य अलंकार से मिश्रित भी। किन्तु जहाँ श्लेष के साथ कोई अन्य अलंकार सम्मिलित होता है वहाँ उन दोनों में जो प्रधान होता है, उसे ही मानना चाहिए, न कि सर्वत्र श्लेष ही। निष्कर्ष यह है कि जहाँ एक से अधिक अलंकारों की स्थिति होती है वहाँ जिस अलंकार की प्रधानता होती है वही माना जाता है।

(५) पुनरुक्तवदाभास अलंकार

भिन्न-भिन्न आकार वाले शब्दों का वस्तुतः एक अर्थ न होने पर भी एक अर्थ की प्रतीत होने को 'पुनरुक्तवदाभास' कहते हैं।

पुनरुक्तवदाभास में पुनरुक्ति का आभास मात्र होता है—वस्तुतः पुनरुक्ति नहीं।

'यमक' अलंकार में एक आकार वाले भिन्नार्थक शब्दों का और इसमें भिन्न-भिन्न आकार वाले भिन्नार्थक शब्दों का प्रयोग होता है। इसमें और यमक में भेद है।

> क्यों न होय छितिपाल वह नीतिपाल जग एक,
> जाके निकट जु रहतु नित सुमनस विवुध अनेक॥

यहाँ 'सुमनस' और 'विवुध' पदों का रूप जुदा-जुदा है, पर इनका एक ही अर्थ प्रतीत होता है—सुमनस, और विवुध शब्दों का अर्थ देवता है। किन्तु यहाँ सुमनस का अर्थ सुन्दर मन वाले और विवुध का अर्थ विद्वान् है। यहाँ 'सुमनस' और 'विवुध' के स्थान पर इसके पर्यायवाची शब्द बदल देने पर पुनरुक्ति का आभास नहीं हो सकता इसलिए शब्द गत है।

---

१ 'काव्यालंकार-सार-संग्रह' के प्रणेता आचार्य उद्भट आदि।

शब्दार्थ उभय गत पुनरुक्तवदाभास--

वन्दनीय किहिं के नहीं वे कविंद मति मान,
सुरग गयेहू काव्य रस जिनको जगत-जहान।

यहाँ 'जगत' और 'जहान' पदों का एक अर्थ सा प्रतीत होता है किन्तु 'जगत' का प्रकाशित और 'जहान' का सारे जगत में अर्थ है जगत शब्द के स्थान पर 'उदित' 'प्रकाश' इत्यादि शब्द बदल देने पर पुनरुक्ति प्रतीत नहीं होती इसलिए शब्द-गत है और 'जहान' के स्थान पर 'लोक' आदि शब्द बदल लेने पर भी पुनरुक्ति का आभास होता है इसलिए अर्थ-गत है अतएव शब्दार्थ उभय-गत पुनरुक्तवदाभास है।

"ग्रीषम कौ भीषम प्रताप जग जाग्यौ भये,
सीत के प्रभाव भाव भावना भुलानी के।
कहँ 'रतनाकर' त्यों जीवन भयो है जल,
जाके विना मास सुखात सब प्रानी के॥"

यहाँ जीवन और जल शब्दों का रूप भिन्न-भिन्न होने पर भी अर्थ एक ही प्रतीत होता है, पुनरुक्ति-सी प्रतीत होती है। किन्तु जीवन का अर्थ प्रान देने वाला है अतः पुनरुक्ति का आभास मात्र है।

(६) चित्र अलंकार

वर्णों की रचना विशेष के कारण जो छंद कमल आदि आकार में पढ़े जा सकें वहाँ 'चित्र' अलंकार होता है।

इसके कमल, छत्र, पद्म धनुष हस्ति, अश्व और सर्वतोभद्र आदि-आदि अनेक आकार होते हैं। 'चित्र' अलंकार में न तो कुछ शब्दार्थ का चमत्कार है न यह रस का उपकारी ही है। केवल रचना करने वाले कवि की एक प्रकार निपुणता मात्र है। यह कष्ट-काव्य माना गया है। पण्डितराज का मत है कि इसे काव्य में स्थान देना ही अनुचित है। इसके अधिक भेद न दिखाकर एक उदाहरण देते हैं—

कमल बंन्धु चित्र--

प्रत्येक दूसरा वर्ण एक ही होने से कमल, के आधार का चित्र होता है।
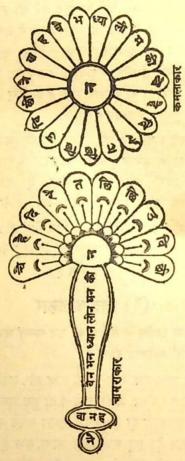
नैन-वान हन बैन भन ध्यान लीन मन कीन,
चैन है न दिन रैन तय छिन छिन उन बिन छीन।

इस दोहे में प्रत्येक दूसरा वर्ण 'न' है। यह दोहा दर्पण, चक्र, मुष्टिका, हार, हलकुण्डी, चामर, चौकी, कपाटबन्ध आदि बहुत से चित्र बन्धों का उदाहरण है। विस्तार-भय से अधिक चित्र न बनाकर कमल-बन्ध और चामर-बन्ध चित्र दिखाये गये हैं।

द्वितीय परिच्छेद

अर्थालंकार

'अलंकरणमर्थानामलंकार इष्यते,
तं बिना शब्दसौन्दर्यमपिनास्ति मनोहरम्।'

अग्निपुराण ३४४।१

अर्थालंकारों में सादृश्य-मूलक अलंकार प्रधान हैं। सादश्य-मूलक सभी अलंकारों का प्राणभूत उपमा अलंकार है। कहा है[1]—

'अलंकारशिरोरत्नं सर्वत्र काव्यसम्पदम्,
उपमा कविवंशस्य मातेवेति मतिर्मम।'

राजशेखर।

(१) उपमा

दो पदार्थों के साधर्म्य को उपमान उपमेय भाव से कथन करने को 'उपमा' कहते हैं।

---

१ उपमेयोपमा, अनन्वय, प्रतीप, रूपक, स्मरण, भ्रांतिमान, सन्देह, अपन्हुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति और समासोक्ति आदि सादृश्य-मूलक सभी अलंकार 'उपमा' अलंकार पर निर्भर हैं। इन अलंकारों में सादृश्य कहीं तो उक्ति-भेद से वाच्य होता है और कहीं व्यंग्य। और सादृश्य ही उपमा है इसलिए 'उपमा' अनेक अलंकारों का उत्पादक है।

अर्थात् उपमेय और उपमान में सादृश्य की योजना करने वाले समान-धर्म का सम्बन्ध उपमा है।[1]

'उपमा' का अर्थ है 'उपसामीप्यात् मानं इत्युपमा'। अर्थात् समीपता से किया गया मान–एक वस्तु के समीप में दूसरी वस्तु के स्वरूप का तुलनात्मक ज्ञान कराना। उपमा अलंकार में उपमेय में उपमान के स्वरूप की समानता का ज्ञान कराया जाता है। जैसे–'चन्द्रमा के समान मुख है।' इसमें मुख में चन्द्रमा की समानता का ज्ञान कराया गया है।

उपमा अलंकार के लिए प्रथम उपमेय, उपमान, समान-धर्म और उपमा वाचक शब्द का समझ लेना आवश्यक है। जैसे —

'हरि-पद कोमल कमल से।'

इसमें 'हरि पद' उपमेय है। 'कमल' उपमान है। 'कोमल' समान धर्म है। और 'से' उपमा-वाचक शब्द है।

उपमेय–जो उपमा देने के योग्य हो अर्थात् जिसको उपमा दी जाती है–जिसको किसी के समान कहा जाता है। जैसे यहाँ 'हरि-पद' उपमेय है। हरि-पद को कमल के समान कहा गया है। उपमेय को वर्ण्य, वर्णनीय, प्रस्तुत, प्रकृति और विषय आदि भी कहते हैं।

उपमान–जिसकी उपमा दी जाती है अर्थात् उपमेय को जिसकी समता दी जाती है। जैसे यहाँ 'कमल' उपमान है। कमल के समान हरि-पद को कहा गया है। उपमान को अवर्ण्य, अवर्णनीय, अप्रस्तुत, अप्रकृत और विषयी आदि भी कहते हैं।

समान-धर्म–उपमेय और उपमान दोनों में समानता से रहने वाले गुण, क्रिया आदि धर्म को समान-धर्म या साधारण धर्म कहते हैं। जैसे–यहाँ 'कोमल' समान धर्म है–कोमलता धर्म पद और कमल दोनों में रहता है।

---

१ 'सादृश्यप्रयोजकसाधारणधर्मसम्बन्धोह्युपमा—काव्यप्रकाश वामनाचार्य की बाल-बोधिनी पृ० ६५४।

उपमा-वाचक शब्द—उपमावाचक शब्द, उपमेय और उपमान की समानता को बताने वाले सादृश्य-वाचक शब्द को कहते हैं। जैसे यहाँ से शब्द हरि-पद और कमल दोनों की समानता बतलाता है।

लक्षण में दो पदार्थों का साधर्म्य इसलिए कहा गया है कि 'अनन्वय' अलंकार में भी उपमेय और उपमान का साधर्म्य होता है, किन्तु अनन्वय में उपमेय और उपमान दो वस्तु नहीं होते एक ही वस्तु होती है, जैसे—

है रनरावन-राम को रावन-राम समान।

इसमें श्रीराम और रावन का युद्ध ही उपमेय है और वही उपमान है। उपमा में उपमेय और उपमान दो पदार्थ होते हैं—उपमेय भिन्न वस्तु है और उपमान भिन्न वस्तु। जैसे-पद और कमल दो भिन्न-भिन्न वस्तु हैं।

उपमा के दो प्रधान भेद हैं। पूर्णोपमा और लुप्तोपमा। इनके श्रौती या शाब्दी और आर्थी आदि अनेक भेद होते हैं:—
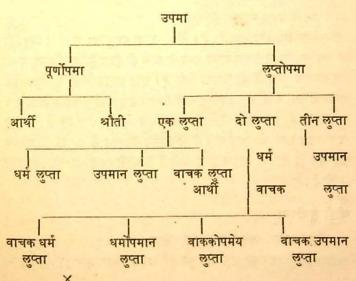
पूर्णोपमा

जहाँ उपर्युक्त उपमेय आदि चारों अंग शब्दों द्वारा कहे जाते हैं वहाँ पूर्णोपमा होती है।

इसके दो भेद हैं—श्रौती और आर्थी।

श्रौती उपमा—

इव, यथा, वा, सी, से, सो, लौं, जिमि इत्यादि सादृश्य सम्बन्ध-वाचक शब्दों का प्रयोग में श्रोती उपमा होती है। 'इव' आदि शब्द उपमेय और उपमान के साधर्म्य (समान धर्म के सम्वन्ध) के साक्षात् वाचक हैं। इन शब्दों में से कोई भी एक शब्द जिस शब्द के बाद होता है वही उपमान समझ लिया जाता है। इसलिये 'इव' आदि शब्द अपनी अभिधा-शक्ति द्वारा ही सादृश्य-सम्बन्ध का बोध करा देते हैं। यद्यपि 'इव' आदि शब्द उपमान से ही सम्बद्ध (लगे हुए) रहने के कारण उपमान के ही विशेषण हैं अर्थात् उपमान में रहने वाले साधारणधर्म के बोधक हैं पर शब्द-शक्ति के सामर्थ्य के कारण ये श्रवण मात्र से ही षष्ठी विभक्ति की तरह उपमान-उपमेय का साधर्म्य-सम्बन्ध बोध करा देते हैं। जैसे—राजा का पुरुष; में षष्ठी विभक्ति के 'का' का प्रयोग केवल राजा शब्द के साथ ही होता है, तथापि वह राजा का सम्बन्ध पुरुष में बोध करा देती है। इसी प्रकार 'चन्द्र सा मुख' इस वाक्य में 'सा' शब्द का उपमान चन्द्र से सम्बद्ध है अर्थात् 'चंद्र' शब्द के बाद लगा हुआ है पर चंद्रमा के सादृश्य का मुख में बोध करा देता है। अतएव 'इव' आदि शब्दों के श्रवण मात्र से ही उपमेय उपमान के सादृश्य के सम्बन्ध का बोध हो जाने के कारण इनके प्रयोगों में श्रौती या शाब्दी उपमा कही जाती है।

श्रौती पूर्णोपमा—

"हो जाना लता न आप 'लता-संलग्ना'
करतल तक तो तुम हुई नवल दल मग्ना;

ऐसा न हो कि मैं फिरूँ खोजता तुझको
है मधुप ढूंढ़ता यथा मनोज्ञ सुमन को।"

जनकनंदिनी के प्रति श्रीरघुनाथजी की इस उक्ति के उत्तरार्ध में श्रौती पूर्णोपमा है। रघुनाथ जी उपमेय हैं। मधुप उपमान है। ढूंढ़ना समान-धर्म है; और 'तथा' श्रौती उपमा-वाचक शब्द है।

"धारि कै हिमंत के सजीले स्वच्छ अंबर कौं,
आपने प्रभाव को अडंबर बढ़ाए लेति;
कहै 'रत्नाकर दिवाकर उपासी जानि,
पाला कंज-पुञ्जनि पै पारि मुरझाये लेति।
दिन के प्रभाव और प्रभा की प्रखराई पर—
निज सियराई-सँवराई छबि छाए लेति,
तेज - हत-पति-मरजाद-सम ताकौं मान,
चाव-चढ़ी कामिनी लौं जामिनी दबाए लेति।"

यहाँ हेमन्त ऋतु की रात्रि को कामिनी की उपमा है। 'जामिनी' उपमेय, 'कामिनी' उपमान, 'दबाए लेति' समान-धर्म और 'लौ' शाब्दी उपमा-वाचक शब्द हैं।

आर्थी उपमा—

तुल्य, तूल, सम, समान, सारस, सदृश्य, इत्यादि उपमा वाचक शब्दों के प्रयोग में आर्थी उपमा होती है। क्योंकि 'तुल्य' आदि शब्द समान धर्मवाले उपमान और उपमेय दोनों के वाचक हैं। जैसे, 'चंद्रमा के तुल्य मुख' में उपमेय (मुख) के साथ, 'मुख है तुल्य चन्द्रमा के' में उपमान (चंद्रमा) के साथ और 'चंद्रमा तथा मुख तुल्य हैं' में उपमान और उपमेय अर्थात् चंद्रमा और मुख दोनों के साथ 'तुल्य' आदि शब्दों का सम्बन्ध रहता है अर्थात् तुल्य आदि शब्द कहीं उपमेय के साथ, कहीं उपमान के साथ और कहीं दोनों के साथ सम्बन्ध रखते हैं। अतएव इनके प्रयोग में अर्थ पर विचार करने पर ही साधर्म्य का (समान धर्म के सम्बन्ध का) बोध होता

है। 'तुल्य' आदि शब्द 'इव' आदि शब्दों की तरह साधर्म्य के साक्षात् वाचक नहीं हैं। अर्थात् 'इव' आदि शब्द जिस शब्द के बाद लगे हुए होते हैं, जिस शब्द से सम्बन्ध रखते हैं उसको शब्द शक्ति के कारण उपमान जान लिया जाता है किन्तु तुल्य आदि शब्द जिस शब्द से सम्बन्ध रखते हैं उसका उपमान होना अनिवार्य नहीं है। इनके प्रयोग में उपमेय उपमान का बोध अर्थ का विचार करने पर विलंब से ही होता है।[1] इसी कारण 'तुल्यादि' शब्द आर्थी-उपमा-वाचक हैं।

आर्थी पूर्णोपमा--

'विजय करन दारिद-मदन दरन सकल दुख-दुंद,
गिरिजा-पद मृद कन्ज सम बंदत हौं सुख-कंद॥'

यहाँ 'गिरजा-पद' उपमेय है। 'कुञ्ज' उपमान है। 'मृदु' समान-धर्म और 'सम' आर्थी उपमा-वाचक शब्द है।

'पूरी हुई होगी प्रतिज्ञा पार्थ की इससे सुखी,
पर चिह्न पाकर कुछ न उसके, व्यग्र चितायत दुखी।
राजा युधिष्ठिर उस समय दोनों तरफ शोभित हुए,
प्रमुदित न विमुदित उस समय के कुमुद सम शोभित हुए।'

सूर्यास्त के समय जयद्रथ के वध का अनुमान करने वाले 'युधिष्ठिर' उपमेय हैं। 'कुमुद' उपमान है। 'प्रमुदित न विमुदित' समान-धर्म और 'सम' आर्थी उपमा वाचक शब्द है।

लुप्तोपमा

उपमेय, उपमान, समान-धर्म और उपमा-वाचक शब्द में से किसी एक दो अथवा तीन के लोप हो जाने में--कथन नहीं किये जाने में लुप्तोपमा होती है। 'लोप का अर्थ है--कहा नहीं जाना।'

---

१ 'आर्थ्यामुपमानोपमेयनिर्णयविलम्बनास्वादविलम्बः तदभावः श्रौत्यमिति' उद्योत (आनंदाश्रम पृ० ४४२)।

धर्म-लुप्ता--

"कुंद इंदु सम देह उमारमन करुना-अयन,
जाहि दीन पर नेह करौ कृपा मर्दन मयन।"

यहाँ शिव जी की देह उपमेय है। कुंद और इंदु उपमान हैं और 'सम' आर्थी उपमा-वाचक शब्द है। गौर-वर्ण आदि धर्मों का कथन नहीं है अतः धर्म-लुप्ता उपमा है। 'सम' के स्थान पर 'सो' कर देने पर यहाँ धर्म लुप्ता श्रौती उपमा हो जायगी।

उपमान-लुप्ता--

जिह तुलना तुहि दीजिये सुवरन सौरभ माँहि,
कुसुम तिलक चंपक ! अहो ! हौं नहिं जानौं ताहि' ॥

यहाँ उपमान का कथन नहीं है अतः उपमालुप्ता आर्थी उपमा है। श्रौती उपमान-लुप्ता नहीं हो सकती।

वाचक-लुप्ता--

"नील-सरोरुह स्याम तरुन अरुन वारिज नयन,
करौ सो मम उर-धाम सदा छीर-सागर-सयन ॥"

यहाँ उपमा-वाचक-शब्द नहीं है।

वाचक-धर्म लुप्ता--

'नीति निपुन निज धरंम चित चरित सबै अवदात,
करत प्रजा रंजन सदा नृप-कुंजर विख्यात ॥'

यहाँ 'नृप' उपमेय और 'कुंजर' उपमान है। साधारण-धर्म वाचक-शब्द नहीं हैं अतः वाचक-धर्म-लुप्ता है।

वाचक-धर्म लुप्ता और रूपक की पृथकता--

वाचक धर्म-लुप्ता के और सम-अभेद रूपक के उदाहरण एक समान प्रतीत होते हैं, पर जहाँ 'विशेषण' मुख्यता से उपमान से सम्बन्ध रखता हो अर्थात् जहाँ उपमान के धर्म की प्रधानता होती है वहाँ रूपक

होता है और जहाँ 'विशेषण' मुख्यता से उपमेय से सम्बन्ध रखता है अर्थात् जहाँ उपमेय के धर्म की प्रधानता होती है वहाँ उपमा होती है। जैसे यहाँ 'नीति निपुन' आदि धर्म (विशेषण) राजा (उपमेय) के लिये ही संभव हो सकते हैं, न कि कुंजर (हाथी) के लिए। अतः यहाँ उपमेय (राजा) के धर्म की प्रधानता उपमा का साधक और रूपक का बाधक है।

"सुनि कुलवधू झरोखनि झांकति
रामचन्द्र-छबि चन्द बदनियां,
'तुलसिदास' प्रभु देखि मगन भई,
'प्रेम - विवस कछु सुधि न अपनियां।"

यहाँ 'वदन' उपमेय और चंद्र उपमान है। साधारण धर्म और वाचक-शब्द नहीं हैं? यहाँ भी 'झांकति' आदि धर्म वदन (उपमेय) की प्रधानता के कारण हैं अतः उपमा है न कि रूपक।

धर्मोपमानलुप्ता--

भूं भूं करि मरिहै वृथा केतिक कण्टक मांहि,
रे अलि! मालति कुसुम सम खोजत मिलिहै नाहिं॥"

'खोजत मिलिहै नाहिं' पद के कारण उपमान और धर्म-लुप्ता है।

वाचकोपमेयलुप्ता--

'छवि सो रति आचरति है चलि अवलोकहु लाल!'

दूती द्वारा किसी नायिका की प्रशंसा है। 'रति' उपमान और 'छवि' समान धर्म है—उपमेय और वाचक शब्द नहीं हैं। इसके उदाहरण संस्कृत ग्रन्थों में 'कान्त्या स्मरवधूयन्ती' इत्यादि क्यच् प्रत्यय के प्रयोग में स्पष्ट दिखाये जा सकते हैं—न कि हिन्दी भाषा में।

वाचक-उपमानलुप्ता--

"दाड़िम दसन सु सित अरून हैं मृग-नयन विसाल,
केहरि कटि अति छीन है लसत मनोहर बाल॥"

दसन आदि उपमेय और सित अरुन आदि साधारण धर्म हैं। वाचक शब्द और उपमान (दाड़िम के दाने आदि) का लोप है। केवल दाड़िम, मृग, और सिंह, दशन, नेत्र और कटि के उपमान नहीं हो सकते हैं। किन्तु दाड़िम दाने मृग के नेत्र और सिंह की कटि उपमान हो सकते हैं।

धर्म-उपमान-वाचकलुप्ता—

'कुंजर-मनि कंठा कलित उरन्ह तुलसिका माल,
वृषभ-कन्ध केहरि ठवन बलनिधि बाहु विसाल'॥

यहाँ 'ठवन' उपमेय है। स्कंध का उमपान वृष का स्कंध हो सकता है— वृष के स्कंध की ही उपमा स्कंध की दी जा सकती है, न कि केवल वृष की। अतः उपमान तथा समान धर्म एवं उपमा-वाचक शब्द का लोप है।

धर्मोपमेयवाचकलुप्ता का काव्यनिर्णय में भिखारीदास जी ने—

"नभ ऊपर सर बीचि युत कहा कहौं बृजराज!
तापर बैठ्यो हौं लख्यौं चक्रवाक जुग आज।"

यह उदाहरण दिया है। इसमें धर्म, उपमेय और वाचक शब्द नहीं हैं— केवल नायिका के अंगों के उपमान है। केवल उपमान का कहा जाना रूपकातिशयोक्ति का विषय है अतः न तो ये उदाहरण लुप्तोपमा के हैं और न धर्म, उपमेय और उपमा-वाचक शब्द के लोप में उपमा हो ही सकती है।

उक्त भेदों के सिवा उपमा के और भी अनेक भेद होते हैं। जैसे—

श्लेषोपमा

जहाँ श्लिष्ट शब्दों द्वारा समान-धर्म का कथन किया जाता है, वहाँ श्लेषोपमा होती है।

यह अर्थ-श्लेष और शब्द-श्लेष द्वारा दो प्रकार की होती है।

प्रतिद्वन्दी शशि का प्रिये ! परिपूरित मकरंद,
तेरा मुख अरविंद सम शोभित है सुखकंद।

'अरविंद' उपमान और 'मुख' उपमेय दोनों के समान धर्म शशि का प्रतिद्वन्दी[1] और 'पूरतिमकरंद' श्लिष्ट पदों द्वारा कहे गये हैं। शशि का प्रतिद्वन्दी आदि के पदों के पर्याय शब्दों द्वारा भी समान-धर्म का बोध हो सकता है। अतः अर्थ-श्लेष मिश्रित उपमा है। यहां श्लेष गौण और उपमा प्रधान है।

'कभी सत्य तथैव असत्य की मृदुचित कभी अति क्रूर लखाती,
कभी हिंसक और दयालु कभी सुउदार कभी अनुदार दिखाती।
धन-लुब्धक भी बनती कबहौं व्यय में कर-मुक्त कभी दृग आती,
नृपनीति की है न प्रतीति सखे! गणिका सम रूप अनेक बनाती!'

यहाँ 'नृपनीति' उपमेय और 'गणिका' उपमान है। इन दोनों के समान धर्म 'कभी सत्य तथैव असत्य कभी' आदि श्लिष्ट पदों द्वारा कहे हैं। इन पदों के पर्याय शब्दों द्वारा भी समान-धर्म का बोध हो सकता है। यहाँ भी अर्थ-श्लेष मिश्रित है।

शब्द-श्लेषोपमा--

"बहुरि सक्र सम बिनवहुँ तेही। संतत सुरानीक हित जेही।"

यहाँ 'सुरानीक' श्लिष्ट पद द्वारा खलों को सक्र (इन्द्र) की उपमा दी गई है। खल के पक्ष में 'सुरानीक'—अच्छी मदिरा और इन्द्र के पक्ष में सुर देवताओं की अनीक सेना। यहाँ 'सुरानीक' पद के स्थान पर इसी अर्थ वाला अन्य पद रखने पर इन्द्र की उपमा नहीं बन सकती इसलिये यह शब्दाश्रित होने के कारण शब्द श्लेषोपमा है।

रसनोपमा

बहुत से उपमान और उपमेयों में यथोत्तर उपमेय को उपमानकथन किये जाने को 'रसनोपमा' कहते हैं।

---

१ चन्द्रमा पक्ष में शत्रु और मुख पक्ष में प्रतिद्वन्द्विता करने वाला।

रसना कहते हैं कटि आभूषण 'करधनी' को। जिस प्रकार रसना में सुवर्ण की एक कड़ी दूसरी कड़ी के साथ यथोत्तर सांकल की तरह गुंथी रहती है, इसी प्रकार यथोत्तर उपमेय उपमान का सम्बन्ध रहता है।

'कुल सी मति, मति सो जु मन मन ही सो गुरु दान।'

यहाँ 'मति' उपमेय है फिर यही 'मति' मन उपमेय का उपमान है। 'मन' भी 'दान' उपमेय का उपमान है।

उपर्युक्त सारे उदाहरण वाच्योपमा के हैं क्योंकि इनके वाच्यार्थ में ही उपमा है।

लक्ष्योपमा--

'सरसिज सोदर हैं प्रिये! तेरे दृग रमणीय।'

नेत्रों को कमल के सहोदर (एक उदर से उत्पन्न भ्राता) कहा गया है। किन्तु नेत्रों को कमल के सहोदर कहना नहीं बन सकता अतः मुख्यार्थ का बोध है। कमल के सहोदर का लक्ष्यार्थ के यहाँ कमल के समान समझा जाता है अतः लक्षण द्वारा सादृश्य लक्षित होने के कारण लक्ष्योपमा है[1]।

व्यंग्योपमा--

'मनरंजन हो निशिनाथ तथा उडुराज सुशोभित हो सच ही,
करते तुम मोद[2] कुमोद को भी समता अपनी सहते न कहीं।
पर गर्व वृथा करते तुम चंद्र! न ध्यान कभी धरते यह ही,
कहिये किसने कर खोज कभी भुविमंडल देख लिया सब ही?'

यहाँ वाच्यार्थ में स्पष्ट उपमा नहीं दी गई है। चन्द्रमा के प्रति किसी वियोगी की इस उक्ति में 'कभी बाहर नहीं निकलने वाली मेरी प्रिया

---

१ 'लक्ष्योपमा' लाक्षणिक शब्द के प्रयोग में होती है। इसकी स्पष्टता काव्यकल्पद्रुम के प्रथम भाग के दूसरे स्तवक में की गई है।

२ कुमुद पुष्प अथवा मोद रहित अर्थात् आनन्द रहित--तप्त।

का मुख जो तेरे समान है, तूने नहीं देखा है इस, व्यंग्यार्थ की ध्वनि में यह उपमा है कि मेरी प्रिया का मुख चंद्रमा के समान है।

'रूपक' अलंकार की भांति उपमा के निरवंयवा, सावयवा आदि भेद होते हैं—

निरवयवा--

इसमें उपमान और उपमेय के अंग या सामग्री नहीं कही जाती है।

शुद्ध निरवयवा--

"गोकुल-नरिंद इन्द्रजाल सो जुटाय ब्रज
बालन भुलाय कै छुटाय घने भाम सौ,
विज्जुल से वास अंग उज्वल अकार करि
विविध विलास रस हास अभिराम सों।
जान्यों नहिं जातु पहिचान्यो न विलात रास,
मंडल ते स्याम भास मंडल ते धाम सों,
बाहन के जोट काय कंचन के कोट गयी
ओट कै दमोदर दुरोदर के दाम सों।"

यहाँ दामोदर (श्रीकृष्ण) को दुरोदर के दाम (जुआ के द्रव्य) की उपमा दी गई है। जुए के अंग या सामग्री का कथन नहीं है अतः निरवयवा है। 'हरिपद कोमल कमल से' आदि उदाहरण भी निरवयवा उपमा के हैं।

निरवयवा मालोपमा

जहाँ एक उपमेय की बहुत सी उपमा दी जाती हैं वहाँ मालोपमा होती है।

"जैसे मद-गलति गयंदनि के वृन्द बेधि,
कंदत जकंदत मयंद कढ़ि जात है,

कहै 'रतनाकर' फनिंदनि के फंद फारि
जैसे विनता को प्रिय नंद कढ़ि जात है।
जैसे तारकासुर के असुर समूह सालि
स्कंद जगवंद निरद्वंद कढ़ि जात है,
सूबा-सरहिंद -सेन गारि यौं गुविंद कढ्यो
ध्वंसि ज्यौं विधुंतुद कौं चंद कढ़ि जात है॥"

गुरु गोविन्दसिंह को मयंद (सिंह), बिनतानन्द (गरुड़), स्कन्द और चन्द्र की चार उपमाएँ दी गई हैं। और उपमेय उपमान के अंग नहीं कहे गये अतः निरवयवा है।

सावयवा

इसमें उपमेय के अवयवों को भी उपमान के अवयवों द्वारा उपमा दी जाती है।

'बदन कमल सम अमल यह भुज यह सदृश मृनाल,
रोगावली सिवाल सम सरसी सम यह बाल।'

यहाँ नायिका को सरसी (गृहवापिका-बावड़ी) की उपमा दी गई है। नायिका के मुख, भुजा आदि अवयवों को भी कमल, मृनाल आदि बावड़ी के अवयवों की उपमा दी गई है। अतः सावयवा है।

(२) अनन्वय अलङ्कार

एक ही वस्तु को उपमान और उपमेय भाव से कथन किये जाने को अनन्वय अलंकार कहते हैं।

अनन्वय का अर्थ है अन्वय (सम्बन्ध) न होना। अनन्वय में अन्य उपमान का सम्बन्ध नहीं होता—उपमेय को ही उपमान कहा जाता है।

"विधि-वंचित ह्वै[1], करि किंचितपाप, भयो जिनके हिय खेद महा,
तिनके अघ-जारन को जननी! अवनीतल तीर्थ अनेक यहाँ।

---

१ विधाता द्वारा ठगे हुए।

'जिनको न समर्थ उधारन को अब नाशक कोउ न कर्म कहाँ,
उनको भवसागर-तारन को इक तोसी तुही बस है अघ-हा॥'

यहाँ 'तो सी तुहीं' पद द्वारा गंगाजी की ही उपमा दी गई है अतः उपमान और उपमेय एक ही वस्तु है। 'सी, शाब्दी उपमावाचक शब्द है।

"आगे रहे गनिका गज गीध सु तौ अब कोउ दिखात नहीं है,
पाप परायन ताप भरे 'परताप' समान न आन कहीं है।
हे सुखदायक प्रेमनिधे! जग यों तो भले और बुरे सब ही हैं,
दीनदयाल औ दीन प्रभो! तुमसे तुम ही हमसे हम ही हैं॥"

यहाँ 'तुम से तुम ही हमसे हम ही हैं' में 'से' शाब्दी-उपमा वाचक शब्द है अतः शाब्द अनन्वय है जहाँ आर्थी-उपमा-वाचक शब्द का प्रयोग होता है। वहाँ अर्थ अनन्वय समझना चाहिए।

अनन्वय की ध्वनि--

"अनेकों आती हैं तटिनी गिरियों से निकल ये,
कहो श्रीभर्त्ता के चरण किसने क्षालन किये?
अनंगारी धारी निज शिर-जटा में कब किसे
बता री ए अम्बे! कवि कहँ तुम्हारी सम जिसे।"

यहाँ श्री गंगाजी की उपमा शब्द द्वारा नहीं दी गई है। 'तेरे सिवा दूसरी किस (नदी) ने श्रीलक्ष्मीनाथ के पाद प्रक्षालन किये हैं और किसको श्री शंकर ने अपनी जटा में धारण किया है?' इस वाक्य में "तूने ही श्रीरसारमण के चरण प्रक्षालन किये हैं और तुझे ही श्रीशंकर ने अपनी जटा में धारण किया है अर्थात् तेरे समान तू ही है" यह अनन्वय की ध्वनि निकलती है।

(३) असम अलङ्कार

अपमान के सर्वथा अभाव वर्णन को 'असम' अलंकार कहते हैं।

असम का अर्थ है जिसके समान दूसरा न हो।

"सोक-समुद्र 'विमज्जित काढ़ि कपीस कियो जग जानत जैसो'
नीच निसाचर वैरि को बन्धु विभीषन कीन्ह पुरन्दर तैसो।
नाम लिये अपनाय लियो 'तुलसी' सो कहो जग कौन अनैसो,
आरत-आरति भंजन-राम गरीब-निवाज न दूसर ऐसो॥"

'श्रीरघुनाथजी के समान दूसरा कोई नहीं है' इस कथन में उपमान का सर्वथा निषेध है।

'असम' की ध्वनि--

"जाज्वल्य ज्वाला मय अनल की फैलती जो कान्ति है,
कर याद अर्जुन की छटा होती उसी की भ्राँति है।
इस युद्ध में जैसा पराक्रम पार्थ का देखा गया,
इतिहास के आलोक में है सर्वथा ही वह नया।"

वहाँ चतुर्थ चरण के वाक्यार्थ से 'अर्जुन' के समान कोई नहीं हुआ यह ध्वनि निकलती है अतः 'असम' की ध्वनि है।

अनन्वय और असम का मिश्रित उदाहरण--

"उपमा न कोउ कह दास 'तुलसी' कतहुँ कवि कोविद कहहिं,
बल-विनय विद्या-सील-सिंधु इन्ह से एइ अहहिं।"

यहाँ पूर्वार्द्ध में असम और उत्तरार्द्ध से अनन्वय है। पर वहाँ जो 'असम' है वह अनन्वय का अंग है प्रधानता अनन्वय की ही है।

अनन्वय और लुप्तोपमा से असम की भिन्नता--

अनन्वय अलंकार में उपमेय को ही उपमान कहा जाता है और असम में उपमान का सर्वथा अभाव वर्णन किया जाता है।

धर्मोपमान-लुप्ता उपमा में भी उपमान का सर्वथा अभाव नहीं कहा जाता। जैसे-पूर्वोक्त 'भूं-भूं करि मरि है वृथा केतिक कंटक मांहि' इस उदाहरण में मालती पुष्प के सादृश्य का सर्वथा अभाव नहीं कहा गया है किन्तु भ्रमर के प्रति यह कहा गया है कि संभव है—कहीं हो तुझे केतकी के वन में मालती जैसा पुष्प अप्राप्य है।"

रसगंगाधर और अलंकार रत्नाकर में असम को स्वतन्त्र अलंकार माना गया है। काव्यप्रकाश की व्याख्या 'उद्यौत' कार इसे अनन्वय के और प्रभा' कार इसे लुप्तोपमा के अन्तर्गत मानते हैं।

(४) उदाहरण अलंकार

जहाँ सामान्य रूप कहे गये अर्थ को भले प्रकार समझाने के लिये उसका एक अंश (विशेष रूप) दिखला कर उदाहरण दिखाया जाता है वहाँ 'उदाहरण' अलंकार होता है।

उदाहरण का अर्थ है नमूना' अर्थात् जो सामान्य अर्थ कहा जाय, उसका इव, यथा, जैसे और दृष्टान्त आदि शब्दों के प्रयोग द्वारा उदाहरण (नमूना) दिखाया जाना। जैसे—

"बिपदागत हू सदगुनी करत सदा उपकार,
ज्यों मूर्च्छित अरु मृतक हू पारद ह्वै गुनकार॥"

पूर्वार्द्ध में कही गई सामान्य बात का उत्तरार्द्ध में उदाहरण दिया गया है।

'बलवानन सों बैर बिनसत कुमति नितांत,
'यामें हर अरु मदन को ज्यों प्रतच्छ दृष्टांत।'

पूर्वार्द्ध के सामान्य कथन का उत्तरार्द्ध में उदाहरण दिया गया है।

उदाहरण अलंकार की अलंकारों से भिन्नता--

'दृष्टान्त' अलंकार में उपमेय और उपमान का बिंब-प्रतिबिंब भाव होता है और 'इव' आदि उपमा-वाचक शब्द का प्रयोग नहीं होता है। किन्तु उदाहरण अलंकार में सामान्य अर्थ को समझाने के लिये उसके एक अंश को दिखाया जाता है; प्रायः साहित्याचार्यों ने इवादि का प्रयोग होने के कारण 'उदाहरण' अलंकार को उपमा का एक भेद माना है। पण्डितराज के मतानुसार यह भिन्न अलंकार है। उनका कहना है कि उदाहरण अलंकार में सामान्य विशेष्य भाव रहता है-उपमा में यह बात नहीं। और सामान्य

विशेप भाव वाले 'अर्थान्तरन्यास' में 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग नहीं होता और उदाहरण' में 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग होता है इसलिए उदाहरण को भिन्न अलंकार मानना युक्ति-संगत है ?

(५) उपमेयोपमा अलंकार

उपमेय और उपमान को परस्पर में एक दूसरे के उपमान और उपमेय कहे जाने को 'उपमेयोपमा' कहते हैं।

अर्थात् उपमेय को उपमान की और उपमान को उपमेय की उपमा दिया जाना, न कि किसी तीसरी वस्तु की। 'काव्यादर्श' में इसे अन्योन्योपमा नाम से उपमा का ही एक भेद माना है।

यह उक्त-धर्मा और व्यंज धर्मा दो प्रकार का होता है—

"प्रीतम के चख चारु चकोरन है मुसकानि अमी करै चेरो,
रूप रसै बरसै सरसै नखतावलि लौं मुक्तावलि घेरो।
'गोकुल' को तन-ताप हरे सब जौन भरे रवि काम करेरो,
तो मुख सो ससि सोहत है बलि सोहत है ससि सो मुख तेरो"॥

यहाँ मुख और चन्द्रमा को परस्पर उपमेय और उपमान कहा है। ताप-हारक आदि-समान-धर्म कहे गये हैं।

व्यंज धर्मा—

'सुधा, सत की प्रकृति सी, प्रकृति सुधा सम जान,
बचन खलन के विष सदृस विषखल-बचन समान॥

यहाँ माधुर्य आदि धर्म, शब्द द्वारा नहीं कहे गये हैं—व्यंग्य से प्रतीत होते हैं।

(६) प्रतीप

प्रतीप का अर्थ है विपरीत या प्रतिकूल। प्रतीप अलंकार में उपमान को उपमेय कल्पना करना आदि कई प्रकार की विपरीतता होती है। इनके पाँच भेद हैं:—

प्रथम प्रतीप

प्रसिद्ध उपमान को उपमेय कल्पना किया जाना--

"दृग के सम नील सरोरुह थे उनको जल-राशि डुबा दिया हा,
तव आनन तुल्य प्रिये ! शशि को अब मेघ-जटा में छिपा दिया हा।
गति की समता करते कलहंस उन्हें अति दूर भगा दिया हा,
विधि ने सबही तव अंग-समान सुदृश्य बना दिया हा[1]।।"

वर्षा काल में वियोगी की उक्ति है। यहाँ सरोरुह (कमल) आदि प्रसिद्ध उपमानों को नेत्र आदि के उपमेय कल्पना किये गये हैं।

द्वितीय प्रतीप

प्रसिद्ध उपमान को उपमेय कल्पना कर के वर्णनीय उपमेय का अनादर किया जाना।

'करती तू निज रूप का गर्व किन्तु अविवेक,
रमा, उमा शचि, शारदा तेरे सदृश अनेक।'

नायिका की सुन्दरता कथन करना यहाँ कवि को अभीष्ट है। अतएव नायिका वर्णनीय है बता कर तथा रमा, उमा आदि प्रसिद्ध उपमानों को उपमेय बताकर उसका (नयिका का) गर्व दूर किया गया है।

"चक्र हरि-हाथ माहिं, गंग सिव-माथ माहिं,
छत्र नरनाथन के साथ सनमान में,
कुन्द वृन्द बागन में नागराज , नागन में,
पंकज तड़ागन में फटिक पखान में।
सुकवि 'गुलाब' हेर्‌यो हास्य हरिनाच्छिन में,
हीरा बहु खातनि में हिम हिम-थान में,
राम ! जस रावरो गुमान करै कौन हेतु,
याके सम देखो लसै चंद आसमान में।।"

---

१ कुवलयानन्द से पद्य का अनुवाद।

यहाँ राजा रामसिंह का यश वर्णनीय है। चन्द्रमा आदि प्रसिद्ध उपमानों को उपमेय बताकर वर्णनीय यश का निरादर किया गया है।

तृतीय प्रतीप

उपमेय को उपमान करके प्रसिद्ध उपमान का निरादर किया जाना।

'हालाहल, मत गर्व कर—हूँ मैं क्रूर अपार,
क्या न अरे ! तेरे सदृश खल-जन-बचन,विचार'

यहाँ उपमेय दुर्जनों के वचनों को हलाहल के समान कहकर उपमान हालाहल के दारुणता सम्बन्धी गर्व का अनादर किया गया है।

चतुर्थ प्रतीप

उपमान को उपमेय की उपमा के अयोग्य कथन किया जाना।

अर्थात् प्रसिद्ध उपमान को उपमेय के समान कहकर फिर उपमान की उस समानता के (उपमा के) अयोग्य कहना।

तेरे मुख-सा पंकसुत या शशंक यह बात,
कहते हैं कवि झूठ वे बुद्धि-रंक विख्यात।

कमल और चन्द्रमा प्रसिद्ध उपमान हैं—इनकी उपमा मुख आदि की दी जाती है ! यहाँ कमल को मुख की उपमा दी गई है। फिर मुख का उत्कर्ष बताने के लिए उस उपमान को यह बात कवि झूठी कहते हैं, इस वाक्य द्वारा अयोग्य कही गई है।

"दान तुरगन दीजतु है मृग खंजन ज्यों चलता न तजै पल,
दीजतु सिंधुर सिंघलदीप के पीवर-कुम्भ भरे मुकता फल।
ग्राम अनेक जवाहिर पुञ्ज निरंतर दीजतु भोज किधौं नल,
मान महीपति के मन आगे लगै लघु कंकर सों कनकाचल।"

यहाँ उपमान—सुमेरु पर्वत को उपमेय—राजा मानसिंह के मन में सदृश्य के अयोग्य कहा है।

"पुण्य तपोवन की रज में यह खेल खेल कर खड़ी हुई,
आश्रम के नवलतिकाओं के साथ साथ यह बड़ी हुई।
पर समता कर सकी न उसकी राजोद्यान मल्लियाँ भी,
लज्जित हुई देखकर उसको नंदन-विपिन वल्लियाँ भी।"

यहाँ नंदन वन की लतिकाओं को उपमेय—शकुन्तला के सादृश्य के अयोग्य सूचित किया है।

पंचम प्रतीप

उपमान का कैमर्थ्य द्वारा आक्षेप किया जाना।

'जब उपमान का कार्य उपमेय ही भली-भाँति करने के लिये समर्थ है, फिर उपमान की क्या आवश्यकता है' ऐसे वर्णन को कैमर्थ्य कहते हैं। इस प्रकार की उक्ति द्वारा यहाँ उपमान का तिरस्कार किया जाता है।

'करता है क्या न अरविंद, द्युति मंद और
क्या न यह दर्शन को मोद उपजाता है?
देख देख आते हैं चकोर चहुँ ओर क्या न?
देखते ही इसे क्या न काम बढ़ जाता है।
तेरा मुख चन्द्र प्रिये! देख के अनंद फिर—
क्यों न नभ चन्द्र यह शीघ्र छिप जाता है,
सुधामय होने से भी सुधा यह दर्पित है
बिंबाधर तेरा क्या न सुधा को लजाता है[१]।'

---

१ अलंकार पीयूष में रसाल जी ने काव्यकल्पद्रुम (पूर्ण संस्करण) के अनेक पद्य लिखे हैं, जिनके नीचे काव्यकल्पद्रुम का नाम तक नहीं दिया है। कुछ पद्यों में कुछ अक्षर आगे पीछे कर ज्यों के त्यों रख दिये हैं, उन्हीं में का यह कवित्त भी है। पाठकों को यह भ्रम न हो कि इसमें अलंकार पीयूष का भाव चुराया गया है।

चन्द्रमा उपमान के कार्य कमलों की कान्ति हरण करना और दर्शकों को आनन्द देना इत्यादि हैं। इन कार्यों को करने की उपमेय मुख में सामर्थ्य बताई गई है। तीसरे पद में चन्द्रमा की अनावश्यकता कहकर उसका अनादर किया गया है।

"वसुधा में बात राखी न रसायन की,
सुपारस पारस की भली-भाँति भानी तैं,
काम कामधेनु को न हाम[1] हुमायूं[2] की रही
कर डारी पौरस[3] के पौरुष की हानी तैं।
हय गज गाज दान लाख को 'मुरार' को दै
भूप जसवंत कुल-रीति पहिचानी तैं,
चितवन चित्त तें मिटायों चितामनिहू को
कल्पतरुहू की कीन्हीं अल्प कहानी तैं।"

यहाँ कामधेनु और कल्पवृक्ष आदि उपमानों का कार्य राजा जसवन्त-सिंह द्वारा किया जाना कह कर कामधेनु आदि उपमानों का निरादर किया गया है।

श्लेष-गर्भित प्रतीत भी होता है---

तारक-तरल[4] पियूष मय हारक छबि - अरविंद,
तेरा मुख शोभित यहाँ उदित हुआ क्यों चन्द्र।

---

१ मारवाड़ी भाषा में इच्छा का नाम 'हाम' है।

२ हुमायूँ एक पक्षी है। यह जिसके सर पर बैठ जाता है वही सम्राट् हो जाता है।

३ मन्त्र के बल से बनाया हुआ सुवर्ण का पुतला जिससे इच्छानुसार सुवर्ण लेते रहने पर भी वह वैसा ही बना रहता है।

४ चन्द्रमा के पक्ष में भ्रमण करनेवाले तारों के समूह से युक्त और मुख के पक्ष में नेत्रों में चपल तारक---श्याम बिन्दु।

"पुण्य तपोवन की रज में यह खेल खेल कर खड़ी हुई,
आश्रम के नवलतिकाओं के साथ साथ यह बड़ी हुई।
पर समता कर सकी न उसकी राजोद्यान मल्लियाँ भी,
लज्जित हुई देखकर उसको नंदन-विपिन वल्लियाँ भी।"

यहाँ नंदन वन की लतिकाओं को उपमेय—शकुन्तला के सादृश्य के अयोग्य सूचित किया है।

पंचम प्रतीप

उपमान का कैमर्थ्य द्वारा आक्षेप किया जाना।

'जब उपमान का कार्य उपमेय ही भली-भाँति करने के लिये समर्थ है, फिर उपमान की क्या आवश्यकता है' ऐसे वर्णन को कैमर्थ्य कहते हैं। इस प्रकार की उक्ति द्वारा यहाँ उपमान का तिरस्कार किया जाता है।

'करता है क्या न अरविंद, द्युति मंद और
क्या न यह दर्शन को मोद उपजाता है?
देख देख आते हैं चकोर चहुँ ओर क्या न?
देखते ही इसे क्या न काम बढ़ जाता है।
तेरा मुख चन्द्र प्रिये! देख के अमंद फिर—
क्यों न नभ चन्द्र यह शीघ्र छिप जाता है,
सुधामय होने से भी सुधा यह दर्पित है
बिंबाधर तेरा क्या न सुधा को लजाता है[१]।'

---

१ अलंकार पीयूष में रसाल जी ने काव्यकल्पद्रुम (पूर्ण संस्करण) के अनेक पद्य लिखे हैं, जिनके नीचे काव्यकल्पद्रुम का नाम तक नहीं दिया है। कुछ पद्यों में कुछ अक्षर आगे पीछे कर ज्यों के त्यों रख दिये हैं, उन्हीं में का यह कवित्त भी है। पाठकों को यह भ्रम न हो कि इसमें अलंकार पीयूष का भाव चुराया गया है।

यहाँ 'तारक-तरल 'पियूषमय' और 'हारक छवि-अरविन्द', श्लिष्ट विशेषण हैं, ये मुख और चन्द्रमा दोनों के अर्थ में समान हैं।

प्राचीनाचार्यों के मतानुसार प्रतीप को स्वतन्त्र अलंकार लिखा गया है। वस्तुतः प्रतीप के प्रथम तीनों भेद उपमा के अन्तर्गत हैं और चतुर्थ भेद अनुक्त-धर्म व्यतिरेक एवं पंचम भेद एक प्रकार का 'आक्षेप' अलंकार है[1]।

(७) रूपक-अलंकार

उपमेय में उपमान के निषेध-रहित आरोप को रूपक अलंकार कहते हैं।

नाटक आदि दृश्य-काव्यों में नट में दुष्यन्त आदि के स्वरूप का आरोप किया जाता है अतः नाटकादि को रूपक भी कहते हैं—'तद्रूपारोपाद्रूपकम्'—साहित्यदर्पण। इसी रूपक न्याय के आधार पर इस अलंकार का नाम रूपक है। रूपक अलंकार में उपमेय में उपमान का आरोप किया जाता है। आरोप का अर्थ है एक वस्तु की कल्पना कर लेना।

'अपह्नुति' अलंकार में भी उपमेय में उपमान का आरोप किया जाता है किन्तु उसमें उपमेय का निषेध करके उपमान का आरोप किया जाता है। रूपक में उपमेय का निषेध नहीं किया जाता। इसलिये लक्षण में 'निषेध रहित' पद का प्रयोग किया जाता है।

रूपक के भेद इस प्रकार होते हैं—

---

१ देखिए रसगंगाधर प्रतीप प्रकरण।

रूपक

अभेदरूपक

ताद्रूप्यरूपक

सम

अधिक

न्यून

सावयव (या सांग)

निरवयव (या निरंग)

परंपरित

शुद्ध

मालारूप

समस्तवस्तु विषय

एकदेशाविवर्ति

श्लिष्ट शब्द

भिन्न शब्द

शुद्ध

मालारूप
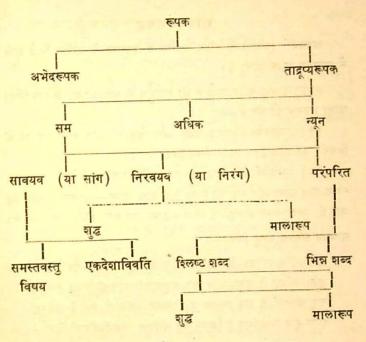
अभेद रूपक

उपमेय में अभेद से उपमान के आरोप किये जाने को अभेद रूपक कहते हैं।

अभेद का अर्थ है एकता। अभेद रूपक में आहार्य अभेद होता है भेद होने पर भी अभेद कहा जाता है अर्थात् अभेद न होने पर भी अभेद कहा जाता है। जैसे 'मुखचन्द्र' में मुख और चन्द्रमा पृथक्-पृथक् दो वस्तुएँ होने पर भी भेद होने पर भी मुख को ही चन्द्रमा कहा गया है। भ्रान्तिमान् अलंकार में भी अभेद होता है, पर उसमें, आहार्य अभेद नहीं किया जाता। क्योंकि भ्रान्ति तभी सिद्ध हो सकती है जब वस्तुतः अभेद की कल्पना की जाती है।

सावयव रूपक

अवयवों[१] (अंगों) के सहित उपमेय में उपमान के आरोप किये जाने में सावयव रूपक होता है।

अर्थात् उपमेय के अवयवों में भी उपमान के अवयवों का आरोप किया जाना। इसके दो भेद हैं—

(१) समस्तवस्तुविषय। सभी आरोप्यमाण[२] और सभी आरोप के विषयों[३] का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया जाना।

(२) एकदेशविवर्ति कुछ आरोप्यमाणों (उपमानों) का शब्द द्वारा स्पष्ट कहा जाना और कुछ का स्पष्ट नहीं कहा जाना—जो स्पष्ट नहीं कहे जाते हैं, उनका अन्य आरोपों के सम्बन्ध द्वारा अर्थ बल से बोध हो जाता है।

सावयव समस्त वस्तु विषय--

'इस व्योम-सरोवर[४] में निखरा सखि! है यह नीलिम-नीर[५] भरा,
अति भूषित है उडुपावलि[६] का मुकुलावलि-मंडल[७] रम्य घिरा।
कर षोडस[८] हैं नव पल्लव ये जिनकी छवि से यह है उभरा,
शशि-कंज विकासित है जिसमें यह शोभित अंक-मिलिन्द[९] गिरा।'

---

१ अवयव का अथ अंग है। शरीर के हाथ और पैर की भाँति यहाँ केवल अंग मात्र ही नहीं किन्तु उपकरण (सामग्री) को भी अंग माना है।

२ जिसका आरोप (रूपक) किया जाता है उसको आरोप्यमाण कहते हैं। आरोप्यमाण से यहाँ उपमान से तात्पर्य है।

३ जिसमें आरोप किया जाता हैं उसको आरोप का विषय कहते हैं। आरोप के विषय से यहाँ उपमेय से तात्पर्य है। 'मुखचन्द्र' में उपमान चन्द्रमा का उपमेय-मुख में आरोप है, अतः चन्द्रमा आरोप्यमाण है और मुख आरोप का विषय है।

४ आपका रूप सरोवर। ५ आकाश की नीलिमा रूपी जल। ६ तारागण। ७ कमल की अधखिली कलियों का समूह। ८ चन्द्रमा की सोलह कला। ९ चन्द्रमा में कलंक है वही भ्रमर है।

चन्द्रमा को कमल रूप कहा गया है। चन्द्रमा (उपमेय) में कमल उपमान का आरोप है और उपमेय-चन्द्रमा के अवयवों में (आकाश, आकाश की नीलिमा, तारागण और सोलह कला आदि अंगों में) भी उपमान-कमल के अवयवों का (सरोवर) जल, कमल-कलिकाएँ, पत्र आदि अंगों का) आरोप किया गया है और चन्द्रमा आदि सभी आरोप के विषय और कमल आदि सभी आरोप्यमाण शब्द द्वारा कहे गये हैं, अतः समस्तवस्तु-विषय सावयव रूपक है।

"आनन अमल चन्द्रचन्द्रिका पटीर - पंक,
दसन अयंद कुन्द - कलिका सुढंग की।
खंजन नयन, पदपानि मृदुकंजनि के,
मंजुल मराल चाल चलत उमंग की।
कवि 'जयदेव' नभ नखत समेत सोई,
ओढ़े चारु चूनरि नवीन नील रंग की।
लाज भरी आज वृजराज के रिझाइवे को,
सुन्दरी सरद सिधाई सुचि अंग की।"

यहाँ शरद-ऋतु में सुन्दरी-नायिका का रूपक है। शरद की सामग्री चन्द्र, चन्द्रिका, कुन्द-कलिका, खंजन और कमल आदि में भी मुख, पटीर-पंक (चन्दन) दन्त, नेत्र, हाथ और चरण आदि कामिनी के अंगों का आरोप है, शरद आदि आरोप के विषय और कामिनी आदि आरोप्यमाण सभी का शब्दों द्वारा कथन किया गया है।

"रनित भृंग घण्टावली[1] झरति दान मधु - नीर,
मन्द मन्द आवत चल्यौ कुञ्जर कुञ्ज - समीर।"

यहाँ कुञ्ज की समीर में हाथी का आरोप है। समीर की सामग्री भृंग और मकरन्द में हाथी के घण्ट और दान का (मद-जल का) आरोप है।

---

१ भृंगों की गुञ्जार रूप घंटा।

सावयव एकदेशविवर्त्ति--

> 'भव-ग्रीषम'[1] की तन-ताप प्रचण्ड असह्य हुई जलते-जलते,
> बल से अविवेक-जञ्जीर उखाड़, नहीं रुकते चलते-चलते।
> उस आत्म-सुधा-सर में झट जा सुकृतीजन मज्जन हैं करते,
> अति शीतल निर्मल वृत्ति-मयी झरने जिसमें रहते झरते।'

यहाँ सत्पुरुषों में हाथी का रूपक है। भव (संसार) में ग्रीष्मऋतु का और अज्ञान में जंजीर (लोहे की सांकल) का आरोप शब्द द्वारा किया गया है। अतः यह आरोप शब्द द्वारा है। सुकृतीजनों में हाथी का आरोप शब्द द्वारा नहीं किया गया है; यह जंजीर आदि अन्य आरोपों के सम्बन्ध द्वारा अर्थ-बल से आक्षिप्त होकर (खिंचकर) बोध होता है, क्योंकि जंजीर से हाथी का बन्धन होना प्रसिद्ध है अतः एकदेश-विवृत्ति सावयव है।

निरवयव 'निरंग' रूपक

अवयवों से रहित केवल उपमान का उपमेय में आरोप किये जाने में निरवयव रूपक होता है।

अर्थात् अवयवों के बिना केवल उपमान का उपमेय में आरोप दिया जाना। इसके दो भेद हैं—

(१) शुद्ध। एक उपमेय में एक उपमान का अवयव के बिना आरोप होना।

(२) मालारूप। एक उपमेय में बहुत से उपमानों का अवयवों के बिना आरोप होना।

---

१ संसार के ताप से तप्त होकर अज्ञान रूप जंजीर को बलपूर्वक तोड़ कर पुण्यात्मा जन आत्मा के विचाररूपी अमृत के सरोवर में--ऐसे सरोवर में, जहाँ एकाकारवृत्ति रूप शीतल झरने सर्वदा सारे तापों को हरने वाले बहते रहते हैं--जाकर मज्जन करते हैं।

शुद्ध निरवयव--

"अनुराग के रंगनि रूप-तरंगनि अंगनि ओप मनौ उफनी,
कवि "देव" हियौ सियरानी सवै सियरानी को देखि सुहाग सनी।
वर-धामन वाम चढ़ी बरसैं मुसुकानि - सुधा घनसार घनी,
सखियानि के आनन-इन्दुन तें अँखियानि की बन्दनवारि तनी॥"

यहाँ मुसक्यान में सुधा का, आनन में इन्दु (चन्द्रमा) का और अँखियन में वन्दनवार का आरोप है। इनके अवयव नहीं कहे गये हैं।

"जीति सकै तिनतें नर को जयदायक जो ह्वै गुपाल सों नाहीं,
वा द्विजराज के बान समान करै उपमान पै काल सो नाहीं,
हाथन में चल-चाल अनूपम है चित्त में चल-चाल सो नाहीं,
द्रोन-वराह की डाढ़न में परिकै कढ़िबो कछु ख्याल सो नाहीं॥"

यहाँ भारत युद्ध में द्रोणाचार्य में वराह का आरोप है। अवयवों का कथन नहीं है, अतः निरवयव है।

निरवयव माला रूपक--

"साधन की सिद्धि रिद्धि साधुन अराधन की,
सुभग समृद्धि - वृद्धि सुकृति कमाई की,
कहैं 'रतनाकर' सुजस - कल - कामधेनु,
ललित लुनाई राम - रस - रुचिराई की।
सबदिन की वारी चित्रसारी भूरि भावनि की,
सरबस सार सारदा की निपुनाई की,
दास तुलसी की नीकी कविता उदार चारु,
जीवन अधार और सिंगार कविताई की॥"

यहाँ गोस्वामी तुलसीदास जी की कविता में साधनों की सिद्धि आदि अनेक निरवयव उपमानों का आरोप है। अतः निरवयव माला रूपक है।

परंपरित रूपक

जहाँ एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है वहाँ पर परम्परित रूपक होता है।

'परंपरित' का अर्थ है परंपरा आश्रित। अर्थात् कार्य और कारण रूप से आरोपों की परम्परा होना, उपमेय में किये गये एक आरोप का दूसरे आरोप के आश्रित होना। अतः 'परम्परित' रूपक में एक आरोप का कारण होता है। इसके दो भेद हैं—

१. श्लिष्ट-शब्द-निबन्धन। श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग में रूपक हो।

२. भिन्न-शब्द-निबन्धन। श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग बिना भिन्न-भिन्न शब्दों में रूपक हो।

श्लिष्ट शब्द निबन्धन परंपरित—

"अद्भुत निज - आलोक सों त्रिभुवन कीन्ह प्रकास,
मुक्तारत्न सु-वंस-भव नृप ? तुम हो गुन रास।

वंश शब्द श्लिष्ट है, इसके दो अर्थ हैं—बाँस और कुल। कुल में जो बाँस का आरोप है, वह राजा में मोती के आरोप करने का कारण है क्योंकि कवि द्वारा राजा को मुक्तारत्न कहना तभी सिद्ध हो सकेगा जब मोतियों के उत्पन्न होने के स्थान बाँस[1] का राजा के कुल से आरोप किया जायगा। अतः शुद्ध श्लिष्ट-शब्द निबन्धन परम्परित है।

"सखि ! नील-नभस्वर में उतरा यह हंस अहो तरता - तरता,
अब तारक - मौक्तिक शेष नहीं, निकला जिनको चरता-चरता।
अपने हिमविन्दु बचे तब भी चलता उनको धरता - धरता,
गड़ जाँय न कण्टक भूतल के कर डाल रहा डरता - डरता।"

इस प्रभात वर्णन में 'हंस' 'कर' श्लिष्ट-शब्द हैं। हँस (सूर्य) में हंस

---

१ बाँस में मोती का उत्पन्न होना प्रसिद्ध है।

(पक्षी) का जो आरोप है वह नभ में सरोवर, तारागणों में मोतियों के और कर (किरणों) में कर (हाथ) के आरोप का कारण है। क्योंकि सूर्य को हंस रूप कहा जाने के कारण ही नभ को सरोवर, तारागणों को मोती और किरणों को हाथ कहा जाना सिद्ध होता है।

भिन्न शब्द निबन्ध परम्परित--

"ऐसे जो हौं जानतो कि जै है तू विषै के संग,
एरे मन मेरे हाथ पाँव तेरे तोरतो,
आजु लौं कत नरनाहन की नाहीं सुनि,
नेह सौं निहारि हरि बदन निहोरतो।
चलन न देतो 'देव' चंचल अचल करि,
चावुक चिताउनी तें मारि मुँह मोरतो,
भारी प्रेम - पाथर नगारा दै गरे सों बाँधि,
राधावर-विरद के वारिधि में बोरतो।"

यहाँ 'प्रेम' में पत्थर का जो आरोप है उसका कारण 'राधावर' समुद्र का आरोप है—राधावर में समुद्र के आरोप किये जाने पर ही प्रेम में पत्थर का आरोप सिद्ध होता है। और प्रेम में पत्थर आदि का आरोप भिन्न-भिन्न शब्दों में है, ना कि श्लिष्ट शब्दों में, अतः भिन्न शब्द परम्परित है।

"सकल-कामना हीन जे राम-भगति रस लीन।
नाम सुप्रेम पियूष - हृद तिनहु किये मन मीन॥"

यहाँ निष्काम भक्तजनों के मन-मीन के आरोप का कारण राम-नाम में सुधासरोवर का आरोप है।

सावयव रूपक और परम्परित रूपक का पृथक्करण--

सावयव रूपक में एक प्रधान आरोप होता है और अन्य आरोप उसके अंगभूत होते हैं अर्थात् प्रधान आरोप सुप्रसिद्ध होता है—वह अन्य आरोपों

के बिना ही सिद्ध हो जाता है[1]—उसके लिए दूसरा आरोप नियत (अपेक्षित या आवश्यक) नहीं होता। जैसे—'इस व्योम सरोवर में सखि नीलिमा...... (पृष्ठ ५३) में चन्द्रमा में जो कमल का प्रधान आरोप है वह सुप्रसिद्ध है अतः वह 'नभ' आदि में सरोवर आदि का आरोप किये बिना ही सिद्ध हो जाता है; अतः इसके बिना नभ आदि में सरोवर आदि का आरोप अपेक्षित नहीं है—रूपक को केवल सावयव बनाने के लिए चन्द्रमा के अवयवों में कमल के अवयवों का आरोप किया गया है।

परम्परित रूपक में एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है, अर्थात् एक आरोप दूसरे आरोप के बिना सिद्ध नहीं हो सकता[2] जैसे—'ऐसो जो हौं जानतो........' (पृष्ठ ५७) में राधावर में जव तक समुद्र का आरोप नहीं किया जायगा, प्रेम प्रेम में पत्थर का आरोप सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि राधावर और समुद्र का साधर्म्य प्रसिद्ध नहीं अतएव एक आरोप दूसरे आरोप का कारण है। सावयव रूपक और परम्परित में यही भेद है।

'भारती भूषण' में दिये गये सावयव रूपक के—

"सूरजमल कवि-वृन्द-रवि गुरु-गनेस-अरविन्द,
पोंवें सुमति-मरन्द दै मों से मलिन मिलिन्द॥"

इस उदाहरण में सावयव नहीं किन्तु परम्परित रूपक है। वक्ता में जो मिलिन्द (भ्रमर) का आरोप है वह महाकवि सूर्यमल में 'रवि' और स्वामी गणेशपुरी में अरविन्द का आरोप किये बिना सिद्ध नहीं हो सकता

---

१ सांगरूप केतु वर्णनीयस्थसङ्गिनः रूपणं सुप्रसिद्ध साधर्म्यं निमित्तकमेव न तु तत्रांगरूपणमेवनिमित्तम्, तस्य तदविनाऽप्युपपत्तेः। काव्यप्रकाश, वामनाचार्य व्याख्या, पृ० ७२७-७२८। और देखिए रसगंगाधर पृ० २३४।

२ 'नियते वर्णनीयत्वेनावश्यके प्रकृतेर्यः आरोपः.... 'काव्यप्रकाश, वामनाचार्य व्याख्या, पृ० ७२८। और साहित्यदर्पण परिच्छेद १०।३३ वृत्ति।

है क्योंकि वक्ता का और भ्रमर का साधर्म्य अप्रसिद्ध है अतः एक आरोप दूसरे आरोप का कारण है।

ऊपर दिए हुए सभी उदाहरणों में उपमेय में उपमान का आरोप समानता से कुछ—न्यूनता या अधिकता के बिना—किया गया है। अतः सभी सम-अभेद रूपक के उदाहरण हैं। साहित्यदर्पण और कुवलयानन्द में 'अधिक' और 'न्यून' रूपक भी लिखे हैं—

अधिक और न्यून रूपक

उपमेय में आरोप होने से पहिले की उपमा की स्वाभाविक अवस्था की अपेक्षा उपमेय में आरोप किये जाने के बाद जहाँ कुछ अधिकता कही जाती है वहाँ अधिक रूपक और जहाँ न्यूनता कही जाती है वहाँ न्यून-रूपक होता है।

अधिक रूपक—

"सुनि समुझहिं जन मुदित मन मज्जहिं अति अनुराग,
लहहिं चार फल अछत तनु साधु - समाज - प्रयाग।।"

यहाँ साधु-समाज में प्रयागराज का आरोप है। प्रयागराज के सेवन से मरने के बाद मुक्ति मिलती है। साधु-समाजरूपी प्रयागराज द्वारा 'अक्षय तनु' (इसी शरीर में) चारों फल का (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) मिलना कहा गया है।

वास्तव में 'अधिक' रूपक 'व्यतिरेक' अलंकार से भिन्न नहीं है।

न्यून-रूपक—

"है चतुरानन - रहित विध द्वै भुज रमानिवास,
भाल-नयन बिन सम्भु यह राजतु हैं मुनि-व्यास।"

यहाँ श्रीवेदव्यास जी में आरोप किये गये चार मुख रहित ब्रह्मा, दो भुजा वाले विष्णु और ललाट के चन्द्रमा रहित शिव इन उपमानों को इनकी स्वाभाविक अवस्था से कुछ न्यूनता कही गई है।

तद्रूप्य रूपक

उपमेय को उपमान का जहाँ भिन्न (दूसरा) रूप कहा जाता है वहाँ तद्रूप्य रूपक होता है।

तद्रूप्य रूपक केवल कुवलयानन्द में लिखा है, अन्य प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं है। तद्रूप्य भी अधिक और न्यून होता है —

'अमिय झरत चहूँ ओर अरु नयन-ताप हरि लेत,
राधा-मुख यह अपर ससि सतत उदित सुख देत ।।'

यहाँ 'अपर ससि' पद द्वारा श्रीराधिका जी के मुख-उपमेय को उपमान चन्द्रमा से भिन्न कहा गया है। 'सतत उदित' के कथन से यह अधिक तद्रूप्य है।

"वह कोकनद-मद-हारिणी-क्यों उड़ गई मुख लालिमा,
क्यों नील-नीरज-लोचनों की छा गई यह कालिमा,
क्यों आज नीरस दल सदृश मुख-रंग पीला पड़ गया,
क्यों चन्द्रिका से हीन है यह चन्द्रमा होकर नया ।।"

इस विरह-दशा के वर्णन में दमयन्ती के मुख को 'नया चन्द्रमा' कहने में तद्रूप्य रूपक है। और 'चन्द्रिका से हीन' कहने के कारण यह न्यून तद्रूप्य है।

(८) परिणाम अलंकार

किसी कार्य के करने में असमर्थ उपमान जहाँ उपमेय से अभिन्न रूप (एक रूप) होकर उस कार्य के करने को समर्थ होता है वहाँ परिणाम अलंकार होता है।

परिणाम का अर्थ है अवस्थान्तर प्राप्त होना। परिणाम अलंकार में उपमेय की अवस्था को प्राप्त होकर उपमेय का कार्य उपमान करता है। जिस प्रकार उत्प्रेक्षा-वाचक मनु, जनु, आदि और उपमा-वाचक इव, सम,

आदि शब्द हैं, उसी परिणाम में 'होना', 'करना' अर्थवाली क्रियाओं का प्रयोग होता है।

"अमरी-कवरी भार-गत भ्रमरित मुखरिन मंजु[1]
दूर करे मेरे दुरित गौरी के पद-कंजु॥"

यहाँ गौरी के पद उपमेय और कमल उपमान है। पापों के दूर करने का कार्य श्रीगौरी के चरण ही कर सकते हैं, न कि कमल, क्योंकि कमल जड़ है। जब उपमान-कमल गौरी के पद-उपमेय से एक रूप हो जाता है, अर्थात् पद-रूपी कमल कहा जाता है तब पापों के दूर करने का कार्य कर सकता है।

"इस अपार संसार विकट में विषम विषम-वन गहन महा,
किया बहुत ही भ्रमण किन्तु हा! मिला नहीं विश्राम यहाँ।
होकर श्रान्त भाग्यवश अब मैं हरि-तमाल[2] के शरण हुआ,
हरण करेगा ताप वही रहता यमुना-तट स्फुरण हुआ॥"

तमाल वृक्ष (उपमान) द्वारा संसार-ताप हरने का कार्य नहीं हो सकता है। तमाल को हरि (उपमेय) से एक रूप करने पर वह संसार-ताप नष्ट करने के कार्य को करने में समर्थ हो जाता है।

परिणाम और रूपक का पृथक्करण--

'परिणाम' और 'रूपक' के उदाहरण एक समान प्रतीत होते हैं। पण्डितराज[3] ने रूपक और परिणाम में यह पृथकता बताई है कि जहाँ उपमान स्वयं किसी कार्य को करने में असमर्थ होने के कारण उपमेय से एक रूप होकर उस कार्य का अर्थात् उपमेय द्वारा होने योग्य कार्य को कर

---

१ प्रणाम करती हुई देवांगनाओं के सुगन्धित केशपाश पर बैठे हुए भौंरों से शब्दायमान होने वाले गौरी के पाद-पद्म।

२ श्री हरि रूप तमाल--श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण।

३ देखिए, रसगंगाधर में परिणाम अलंकार प्रकरण।

सकता है वहाँ 'परिणाम' होता है, और जहाँ उपमान स्वयं किसी कार्य को करने में समर्थ होता है वहाँ 'रूपक'।

(६) उल्लेख अलंकार

एक वस्तु का निमित्त भेद से--ज्ञाताओं के भेद के कारण अथवा विषय भेद के कारण अनेक प्रकार से उल्लेख (वर्णन) किये जाने को उल्लेख कहते हैं।

उल्लेख का अर्थ है लिखना, वर्णन करना।

इसके दो भेद होते हैं। प्रथम उल्लेख और द्वितीय उल्लेख।

उल्लेख और निरवयव-माला रूपक एवं भ्रान्तिमान अलंकार का

पृथक्करण--

निरवयव माला-रूपक में ग्रहण करने वाले अनेक व्यक्ति नहीं होते। किन्तु उल्लेख में अनेक व्यक्ति होते हैं और 'रूपक' एक वस्तु में दूसरी वस्तु के आरोप में होता है। शुद्ध 'उल्लेख' में आरोप नहीं होता, किन्तु एक वस्तु का उसके वास्तविक धर्मों द्वारा अनेक प्रकार से ग्रहण किया जाता है। भ्रान्तिमान में भ्रम होता है, शुद्ध 'उल्लेख' में भ्रम नहीं होता है।

प्रथम उल्लेख--

ज्ञाताओं के भेद के कारण एक वस्तु का अनेक प्रकार से उल्लेख किये जाने को प्रथम उल्लेख कहते हैं।

प्रथम उल्लेख के दो भेद हैं, शुद्ध और संकीर्ण – अन्य अलंकार से मिश्रित।

शुद्ध उल्लेख--

"अति उत्सुक हो जन दर्शक ने हरि को अपने मनरञ्जन जाना,
शिशुवृन्द ने आनन्दकन्द तथा पितृ नन्दक[1] ने निज नन्दन जाना।

---

१ नन्दक नाम भी नन्द जी का है।

युवती जन ने मनमोहन को रति के पति का मद गन्जन जाना,
भुवि-रंग में कंस ने शंकित हो जगवन्दन को निज-कन्दन जाना।।"

कंस की रंगभूमि में प्रवेश करने के समय भगवान् कृष्ण के यहाँ कंस आदि अनेक व्यक्तियों द्वारा अनेक प्रकार से समझा जाना कहा गया है। अन्य किसी अलंकार का मिश्रण न होने के कारण यह शुद्ध उल्लेख है।

अन्य अलंकारों में मिश्रित उल्लेख--

तेरा सहास मुख देख मिलिन्द आते—
वे मान फुल्ल अरविन्द प्रमोद पाते।
ये देख आलि! शशि के भ्रम हो विभोर—
हैं चञ्चु-शब्द करते फिरते चकोर।।

नायिका के मुख को भौंरों ने कमल और चकोरों ने चन्द्रमा समझा है।

यहाँ 'उल्लेख' के साथ 'भ्रान्तिमान' अलंकार मिश्रित है। मुख में भौंरों को कमल की भ्रान्ति होने में और चन्द्रमा की भ्रान्ति होने में 'भ्रान्तिमान' अलंकार है और इन दोनों भ्रान्तियों के एकत्र होने में उल्लेख है।

अवनी की मालसी सुवाल सी दिनेस जानी,
लालसी ह्वै कान्ह करी बाल सुख थाल सी।
नरकन को हालसी विहाल सी करैया भई
धर्मन को उद्धृत सुढाल सी विसाल सी।
'ग्वाल' कवि भक्तन को सुरतरु जाल सी है
सुन्दर रसाल सी कुकर्मन को भाल सी।
दूतन को सालसी जुचित्त को हुसाल सी है
यम को जँजाल सी कराल काल व्याल सी।"

यह उपमा मिश्रित उल्लेख है।

द्वितीय उल्लेख--

विषय-भेद के एक ही वस्तु को एक ही के द्वारा अनेक प्रकार से उल्लेख किये जाने को 'द्वितीय उल्लेख' कहते हैं।

'पर पीड़ा में कातर, अनातुर जो निज दुःख में रहते,
यश-संचय में आतुर, चातुर हैं सज्जन उन्हें कहते ॥'

यहाँ सज्जनों को पर पीड़ा आदि अनेक विषय-भेदों से कातर आदि अनेक प्रकार से कहा गया है। यह शुद्ध द्वितीय उल्लेख है--

"नूपुर बजत मानि मृग से अधीन होत,
मीन होत जानि चरनामृत झरनि के।
खंजन से नचैं देखि सुखमा सरद की सी,
नचैं मधुकर से पराग केसरनि के॥
रीझि-रीझि तेरी पद-छवि पै तिलोचन के,
लोचन ये अंब! धारैं केतिक धरनि के।
फूलत कुमुद से मयंक से निरखि नख,
पंकज से खिलैं लखि तरवा तरनि के॥"

यहाँ श्री शंकर के नेत्रों को श्री पार्वती के चरणों के नूपुर आदि अनेक विषय-भेद से मृग आदि अनेक प्रकार से कहा गया है। यह उपमा मिश्रित है।[1]

(१०) स्मरण अलंकार

पूर्वानुभूत वस्तु के सदृश्य किसी वस्तु के देखने पर उस (पूर्वानुभूत वस्तु) की स्मृति कथन करने को स्मरण अलंकार कहते हैं।

स्मरण का अर्थ स्पष्ट है। स्मरण अलंकार में पूर्वानुभूति वस्तु का संस्कार उत्पन्न करने वाली--कालान्तर में फिर किसी समय उसके

---

१ देखो चित्रमीमांसा उल्लेख प्रकरण।

सदृश वस्तु देखने पर उस पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण हो आना कहा जाता है।

'तुल्य रूप शिशु देखि यह अति अद्भुत बल-धाम,
मख-रक्षक सर-चाप-धर सुधि आवतु हैं राम॥'

सुमन्त्र द्वारा यह लव का वर्णन है। भगवान् रामचन्द्र की बाल्यावस्था के पूर्वानुभूत स्वरूप के सदृश्य कालान्तर में (चन्द्रकेतु के साथ युद्ध करने के समय) श्री रघुनाथ जी के पुत्र लव के स्वरूप को देख कर सुमन्त्र को रामचन्द्र जी का स्मरण हो आना कहा गया है।

'पहुँचा उड़ एक विचित्र कलाप मयूर तुरंग–समीप[1] वहीं,
फिर भी मृगया-पटु[2] भूप ने किन्तु किया उसको शर-लक्ष्य[3] नहीं।
सुधि आ गयी क्योंकि उसे लख के नृप को अपनी अनुभूत वही—
प्रिय-भामिनी की कवरी बिखरी सुमानावलि चारु-गुही झट ही॥"

रघुवंश से अनुवादित इस पद्य में महाराज दशरथ के शिकार का वर्णन है। मयूर का अनेकों रंगों वाला कलाप (पिच्छभार) देखकर दशरथ जी को उसी (मयूर कलाप) के सदृश्य चित्र-विचित्र फूलों की मालाओं से गुंथी और बिखरी हुई अपनी प्रिया की वेणी का स्मरण हो आना कहा गया है।

विरुद्ध वस्तु के देखने पर भी स्मरण अलंकार होता है[4]—

'जब-जब अति सुकुमार सिय बन दुख सों कुम्हिलातु,
तब-तब उनके सदन - सुख रघुनाथहिं सुधि आतु।'

यहाँ दुखों को देखकर सुखों का स्मरण है।

"ज्यों-ज्यों इत देखियतु मूरख विमुख लोग,
त्यों-त्यों ब्रजवासी सुखरासी मन भावै है।

---

१ घोड़े के समीप। २ शिकार में चतुर। ३ बाण का निशाना। ४ देखिये, साहित्य दर्पण-स्मरण अलंकार का प्रकरण।

खारे जल छीलर दुखारे अन्ध कूप चितैं,
कालिन्दी कूल काज मन ललचावै है।।
जैसी अब बीतत सु कहत बनैन बैन,
'नागर' न चैन परै प्रान अकुलावै है।
थोहर पलास देखि-देखि के बँबूर बुरे,
हाय हरे-हरे वे तमाल सुधि आवै है।।"

कृष्णगढ़ नरेश नागरीदास जी के इस उद्गार में मूर्खों आदि को देखकर ब्रजवासियों आदि का वैधर्म्य द्वारा स्मरण है।

स्मरण अलंकार की ध्वनि--

'रवि का यह ताप असह्य, चलो तरु के तल शीतल छाँह जहाँ,
निशि में अब भानु का ताप कहाँ? प्रभु! है यह चन्द्र प्रकाश यहाँ।
प्रिय लक्ष्मण! ज्ञात हुआ यह क्यों? मृग-अंक रहा यह दीख वहाँ,
अयि चन्द्रमुखी! मृगलोचनि! जानकि! प्राणप्रिये तुम हाय कहाँ।।

लक्ष्मण जी के मुख से यह सुनकर कि 'यह सूर्य नहीं है यह तो मृगलाँछन चन्द्रमा है, वियोगी श्री रघुनाथ जी को मृग के समान नेत्रों वाली और चन्द्र के समान मुख वाली श्री सीता जी का स्मरण हो आना यहाँ शब्द द्वारा नहीं कहा गया है किन्तु यह ध्वनित होता है।

'गिरि हैं वह ही शिखि-वृन्द यहाँ मद-पूरति कूक सदा करते,
वन है वह ही मद-मत्त यहाँ मृग-यूथ विनोद रचा करते।
सरिता-तट भी अनुभूत वही इनमें हम आ विचरा करते,
नव-मंजुल कुंज वही जहँ हैं कुछ काल विराम किया करते।।'

शंबूक का वध करके अयोध्या को लौटते हुए श्री रघुनाथ जी द्वारा किये गये इस दण्डकारण्य के वर्णन में वियोगी श्री रघुनाथ जी को जनककुमारी के सहवास के पूर्वानुभूत विनोदों के स्मरण हो आने की जो व्यंजना होती है, उसमें सादृश्य के अभाव में केवल स्मृति होने के कारण 'स्मरण' अलंकार की ध्वनि नहीं—स्मृति संचारी भाव है।

(११) भ्रान्तिमान अलंकार

अप्रकृत (उपमान) के समान प्रकृत (उपमेय) को देखने पर अप्रकृत की भ्रान्ति होने में भ्रान्तिमान् अलंकार होता है।

भ्रान्ति का अर्थ है एक वस्तु को भ्रम के कारण दूसरी वस्तु समझ लेना। इस अलंकार में किसी वस्तु के सदृश्य अन्य वस्तु का—कवि की प्रतिभा द्वारा उत्थापित—चमत्कार का भ्रम होता है।

'दुग्ध समझ कर नर-कपाल को लगे चाटने जिन्हें विडाल[१],
तरु-छिद्रों में गिरी देख गज लगे मानने जिन्हें मृनाल,[२]
निज तल्पस्थ देख[३] रमणीजन लेने लगीं वस्त्र सित जान;
प्रभामत्त-शशि करण सभी को भ्रमित बनाने लगी महान्॥'

यहाँ दुग्ध आदि के '(अप्रकृत के) सदृश चन्द्रमा की (प्रकृत की) चाँदनी में दुग्ध आदि का भ्रम होना कहा है।

समझकर किंशक-कली,[४] होकर भ्रमित—
मुग्ध मधुकर गिर रहे शुक-तुण्ड[५] पर।
है झपटता पकड़ने शुक भी भ्रमित—
जम्बुफल वह समझ उस अलि झुण्ड[६] पर॥

यहां भ्रमर और शुक के परस्पर में भ्रान्ति है।

बाधित भ्रान्ति में अर्थात् किसी वस्तु में अन्य वस्तु की भ्रान्ति होकर फिर उसके दूर हो जाने पर भी यह अलंकार होता है।

'जान कर कुछ दूर से फलपत्र - छाया ताप-हर,
शुष्क-वट के निकट आये भ्रमित हो कुछ पथिक, पर—
शब्द उनका सुन सभी शुक-वृन्द तरु से उड़ गये,
पथिक भी यह देख कौतुक फिर गये हँसते हुए॥'

---

१ बिल्लियाँ। २ कमल-नाल के तंतु। ३ पलंग पर गिरी हुई चन्द्रमा की चाँदनी। ४ ढाक के पुष्प की कली। ५ तोते की चोंच। ६ भृंगों का समूह।

पत्र-रहित सूखे वट-वृक्ष पर बैठे हुए शुक पक्षियों को भ्रम से वट के फल और पत्तों की छाया समझ कर आए हुए पथिकों को शुक-वृन्द के उड़ जाने पर यहाँ उस भ्रान्ति का बोध (मिट जाता) है।

'दृग को नव नील-सरोज अली ! मनरञ्जन वे अनुमानती हैं,
कर-कोमल पद्म सनाल तथा मधुराधर बन्धुक[1] जानती हैं।
मणिरत्न गुंथी कवरीभर[2] को कुसमावलि वे पहचानती हैं,
अति वारण भी करती सखि मैं मधुपावलि किन्तु न मानती हैं।।'

नायिका के नेत्र आदि में यहाँ भृंगावली को कमल आदि का भ्रम होना कहा गया है। यह भ्रान्तिमाला है।

भ्रान्तिमान अलंकार की ध्वनि—

'संग में श्री श्यामसुन्दर राम के,
कनक-रुचि सम मैथिली को देखकर।
चातकों के पोत[3] अति मोदित हुए,
सघन उस वन में प्रफुल्लित पक्ष कर।।'

श्री राम और जानकी को वन में देखकर चातक पक्षियों को विद्युत् सहित नील-मेघ की भ्रान्ति होना यहाँ शब्द द्वारा नहीं कहा गया है— इसकी व्यञ्जना होती है।

जहाँ सादृश्य मूलक चमत्कारक कवि-कल्पित भ्रान्ति होती है वहाँ यह अलंकार नहीं होता।

(१२) सन्देह अलंकार

किसी वस्तु के विषय में सादृश्य-मूलक संशय होने में सन्देह अलंकार होता है।

---

१ एक प्रकार का रक्त पुष्प। २ केशों का जूड़ा—वेणी। ३ बच्चे।

सन्देह का अर्थ स्पष्ट है। यहाँ कवि-कल्पित चमत्कार सन्देह होता है। रात्रि में सूखे वृक्ष को देखकर 'यह सूखा काठ है या मनुष्य?' इस प्रकार के वास्तविक सन्देह होने में कुछ चमत्कार नहीं; अतः अलंकार भी नहीं होता। सन्देह अलंकार के दो भेद हैं—

(१) भेद की उक्ति में संशय। अर्थात् दूसरे से भिन्नता दिखाने वाले का धर्म कथन होकर संशय होना।

(२) भेद की अनुक्ति में संशय। दूसरे से भिन्नता करने वाले धर्म का कथन न होकर केवल संशय का होना। इसको शुद्ध सन्देह भी कहते हैं।

भेदोक्ति सन्देह—

"कैंधों उजागर ये प्रभाकर[1] स्वरूप राजै,
जाकर सदैव सप्त-अश्व' नहिं याकै है।
जगमगात गात जातवेद[2] यह आत कैंधों,
बाहू को प्रसार नांहि दसहू दिसा कै है॥
अति महाकार्य भयदाय यमराज कैंधों,
वाहन महिष पास छाजत जु वाकै है।
याकै है न पास यों विकल्पन प्रकास कै कै,
रन के अवास अरिरास[3] तोहि ताकै है॥"

कवि ने किसी राजा की प्रशंसा में कहा है कि रणभूमि में तुम्हें देखकर शत्रुओं को प्रथम सन्देह होता है कि यह सूर्य है, या अग्नि है, अथवा यमराज। फिर तुम्हारे पास सात घोड़ों का रथ आदि न देखकर यह निश्चय होता है कि यह सूर्य, अग्नि और यमराज नहीं है। पर यह कौन है? इस प्रकार अन्त तक उनको सन्देह बना रहता है। यहाँ सूर्य आदि से भिन्नता-सूचक सूर्यादि उपमानों में रहने वाले सप्त अश्व ये रथ आदि के अभाव रूप भिन्न धर्म कहे गये हैं अतः भेद की उक्ति में निश्चय गर्भ सन्देह है।

---

१ सूर्य। २ अग्नि। ३ शत्रुगण।

"च्युत घन है क्या चपला,
चम्पक - लतिका परिम्लान किंवा है।
लख कर स्वास चपलता,
जाना कपि विकल जानकी अम्बा है।।"

अशोक वाटिका में जानकीजी को देखकर हनुमानजी को चपला (बिजली) और चम्पक-लता का सन्देह हुआ फिर दीर्घ निश्वास निकालती हुई देखकर अन्त में 'यह सीताजी ही हैं' यह निश्चय हो गया है। निश्वासों का होना उपमेय सीताजी का भिन्न-धर्म कहा गया है। अतः भेदोक्ति में निश्चयान्त है।

भेद की अनुक्ति में सन्देह—

"रचना इसकी मन-मोहक में कि कलानिधि चन्द्र[1] प्रजापति[2] है,
कुसुमाकर[3] ही सुखमाकर वा कुसुमायुध ही रति का पति है।
विधि वृद्ध विरक्त हुआ जिसकी अब वेद-विचार-रता मति है,
इस रूप अलौकिक की कृति में न समर्थ कहीं उसकी गति है।।"

उर्वशी के सौन्दर्य के विषय में राजा पुरूरवा द्वारा यह सन्देह किया गया है कि इसकी रचना करने वाला चन्द्रमा है, या वसन्त, अथवा कामदेव ? यहाँ चन्द्रमा आदि से भेद दिखाने वाले धर्म नहीं कहे गये हैं, अतः भेद की अनुक्ति है। उत्तरार्द्ध में कहे गये ब्रह्मा की वृद्धता आदि धर्म चन्द्रमा आदि द्वारा रचना किये जाने के सन्देह को पुष्ट करते हैं, कि भेद-दर्शक धर्म।

"तारे आसमान के हैं आये मेहमान बन
या कि कमला ही आज आके मुसकाई है।

---

१ यद्यपि कलानिधि चन्द्रमा का ही नाम है पर यहां कलाओं का निधि इस अभिप्राय से चन्द्रमा के विशेषण रूप में 'कलानिधि' का प्रयोग है।
२ रचना करने वाला। ३ वसन्त।

चमक रही है चपला ही एक साथ या कि
केशों में निशा के मुकुतावली सजाई है॥
आई अप्सरायें हैं अलक्षित कहीं क्या जो कि
उनके विभूषणों की ऐसी ज्योति छाई है।
चन्द्र ही क्या बिखर गया है चूर-चूर हो के
क्योंकि आज नभ में न पड़ता दिखाई है॥"

दीपमालिका के इस वर्णन में दीपावली में 'तारे' आदि का सन्देह किया गया है।

(१३) अपह्नुति अलंकार

प्रकृत का (उपमेय का) निषेध कर के अन्य के (उपमान के) स्थापन (आरोप) किये जाने को अपह्नुति अलंकार कहते हैं।

'अपह्नुति' शब्द 'ह्नुङ्' धातु से बना है: 'ह्नुङ् अपह्नवे-धातुपाठ'। 'अप' उपसर्ग है। अपह्नुति का अर्थ है छिपाना या निषेध। अपह्नुति अलंकार में उपमेय का निषेध करके उपमान का स्थापन किया जाता है। लक्षण में उपमेय और उपमान का कथन उपलक्षण मात्र है अर्थात् उपमेय और उपमान भाव के बिना भी अपह्नुति होती है[1]। अपह्नुति में कहीं पहिले निषेध करके अन्य का आरोप किया जाता है और कहीं पहिले आरोप करके पीछे निषेध किया जाता है।

अपह्नुति शाब्दी और आर्थी दो प्रकार की होती है। इसके भेद इस प्रकार हैं—

शाब्दी अपह्नुति—

"ससि में अंक कलंक को समझहु जिन सदभाय,
सुरति-श्रमित निसि-सुन्दरी सोवत उर लपटाय॥"

---

१ देखिए काव्यप्रकाश बालबोधिनी व्याख्या।

चन्द्रमा में कलंक का निषेध करके, चन्द्रमा के अंक में रात्रि रूप नायिका के सोने का आरोप किया गया है।

"पावस, ग्रीषम-विजय करि आवत सहित निसान,
इन्द्रधनुष नहिं, तासु यह विजय-पताका जानु।"

यहाँ उपमेय इन्द्रधनुष का निषेध करके पावस के ऋतु की विजय-पताका का आरोप किया गया है।

आर्थी अपह्नुति--

आर्थी अपह्नुति को कैतवापह्नुति भी कहते हैं।

"एक से बढ़ एक कृति में विधि बड़ा सुविदग्ध है,
देखकर चातुर्य उसका हो रहे सब मुग्ध हैं,
दुर्जनों के वदन में भी एक उसने की कला,
व्याज रसना के भयंकर सर्पिणी रख दी भला।"

यहाँ दुर्जनों के मुख में जिह्वा का निषेध करके उसमें सर्पिणी का आरोप किया गया है। यहाँ 'निषेध' शब्द द्वारा नहीं है—'व्याज' शब्द के अर्थ से बोध होता है अतः आर्थी है।

"लालिमा श्री तरवान की तेज में सारदा लौं सुखमा की निसेनी,
नूपुर नील-मनीन जड़े जमुना जगै जौंहर में सुख देनी,
यों लछिराम छटा नख नौल तरंगनि गंग - प्रभा फल देनी,
मैथिली के चरनाबुज व्याज लसै मिथिला जग मंजु त्रिवेनी॥"

यहाँ श्री जनकनन्दिनी के चरणोदक का निषेध करके उसमें त्रिवेणी का आरोप किया गया है। चरणोदक का निषेध शब्द द्वारा नहीं है–वह 'व्याज' शब्द के अर्थ से बोध होता है।

हेतु अपह्नुति

कारण सहित उपमेय का निषेध करके उपमान के स्थापन करने को हेतु अपह्नुति कहते हैं।

'श्याम और यह श्वेत रंग है रमणी - दृग का रूप नहीं,
गरल और अमृत यह दोनों भरे हुए हैं सत्य यहीं।
युवक जनों पर जब होता है देखो इनका गाढ़ निपात,
बेसुध और मुदित होते क्यों यदि नहीं होती यह बात।'

यहाँ नेत्रों में श्याम और श्वेत रंग का निषेध करके उनमें विष और अमृत का आरोप किया गया है। इसका कारण उत्तरार्द्ध में कहा गया है, अतः हेतु अपह्नुति है।

चन्द्रिका इसकी न छवि यह जाल है जञ्जाल है,
जो विरह-विधुरा नारियों को कर रहा बेहाल है।
नागपाश विचित्र यह या गरल सिंचित वस्त्र है,
या अस्त्र है पञ्चत्व का या पञ्च शर का शस्त्र है।"

दमयन्ती की इस उक्ति में चन्द्रमा की चाँदनी का निषेध करके उसमें कामदेव के शस्त्र आदि का आरोप किया गया है। दूसरे चरण में उसका कारण कहा है। यहाँ सन्देह अलंकार मिश्रित है।

पर्यस्तापह्नुति

किसी वस्तु में किसी दूसरी वस्तु के धर्म का आरोप करने के लिए उस दूसरी वस्तु के धर्म का निषेध किए जाने को पर्यस्तापह्नुति कहते हैं।

'है न सुधा यह किन्तु है सुधा रूप सतसंग,
विष हालाहल है न यह हालाहल दुःसंग।'

यहाँ सत्संग में सुधा-धर्म का आरोप करने के लिए सुधा में सुधा धर्म का निषेध किया गया है।

'हालाहल को जो कहते विष वे हैं मति - व्युत्पन्न नहीं,
है विष रमा देखिए इसका है प्रमाण प्रत्यक्ष यहीं,
हालाहल पीकर भी सुख से हैं जागृत श्री उमारमण,
निद्रा - मोहित हुए रमा के स्पर्श मात्र से रमा रमण।।'

यहाँ लक्ष्मी जी में विष-धर्म के आरोप के लिए हालाहल में विष-धर्म का निषेध किया गया है। चौथे पाद में उसका कारण कहा गया है। अतः यह हेतु-पर्यस्तापह्नुति है।

भ्रान्त्यापह्नुति

सत्य बात प्रकट करके किसी की शंका दूर करने को भ्रान्त्यापह्नुति अलंकार कहते हैं।

'मानस चित्त उत्सुक भये लखि नभ मेघ-वितान,
तिन हंसन को मधुर रव नूपुर-धुनि निज जान ॥'

मानसरोवर को जाने वाले हंसों का यह मधुर शब्द है, यह सत्य प्रकट करके नूपुर के शब्द का भ्रम दूर किया गया है।

"आनन है अरविन्द न फूले, अलीगन! भूलि कहाँ मँडरात हौ,
'कीर[1]! तुम्हें कहा वाय लगी भ्रम बिंब ओंठनु को ललचातु हौ,
'दासजू' ब्याली न, बेनी रची पापी कलापी[2]! कहा इतरातु हौ,
बोलत बाल, न बाजत बीन कहा सिगरे मृग घेरत जातु हौ ॥"

शुद्धापह्नुति आदि में प्रकृत (उपमेय) का निषेध होता है और इस भ्रान्त्यापह्नुति में उपमान का। इसलिए साहित्यदर्पण में भ्रान्त्यापह्नुति को 'निश्चय' नामक एक स्वतन्त्र अलंकार माना है।

छेकापह्नुति

स्वयं कथित अपने गुप्त रहस्य के किसी प्रकार प्रकट हो जाने पर उसको मिथ्या समाधान द्वारा छिपाए जाने को छेकापह्नुति अलंकार कहते हैं।

"भयो निपट मो मन मगन, सखी लखत घनश्याम।
लख्यौ कहा नँदलाल महिं जलधर दीपति धाम।"

---

१ तोता। २ मयूर।

यहाँ नायिका द्वारा अपनी अन्तरंग सखी से कहे हुए गुप्त रहस्य को सुनकर 'क्या श्रीकृष्ण को तूने देखा है' इस प्रकार पूछने वाली दूसरी स्त्री से नायिका ने यह कहकर कि 'नहीं मैं तो वह जलधर (मेघ) के विषय में कह रही हूँ' सत्य को छिपाया है।

यह श्लेष-मिश्रित भी होती है—

'रहि न सकत कोउ अपतिता सखि! पावस के ऋतु मांय,
भई कहा उत्कण्ठिता! नहि पथ फिसलत पांय॥"

'अपतिता' के दो अर्थ हैं 'पति के बिना न रहना' और 'फिसले बिना न रहना' वियोगिनी के कहे हुए 'वर्षाऋतु में कोई अपतिता—पति के बिना—नहीं रह सकती' इस वाक्य को सुनकर सखी के यह कहने पर कि 'क्या तू पति के लिए इतनी उत्कण्ठित हो गई है' लज्जित होकर वियोगिनी ने कहा—'नहीं मैं तो यह कहती हूं कि वर्षा ऋतु के मार्ग में कोई अपतिता (फिसले बिना) नहीं रह सकती।'

छेकापह्नुति से वक्रोक्ति और व्याजोक्ति का पृथक्करण—

वक्रोक्ति में अन्य उक्ति का अन्यार्थ कल्पित किया जाता है किन्तु छेकापह्नुति में अपनी उक्ति का और व्याजोक्ति में उक्ति का निषेध नहीं होता है केवल सत्य का छिपाया जाना मात्र है किन्तु छेकापह्नुति में निषेध करने के पश्चात् सत्य छिपाया जाता है।

(१४) उत्प्रेक्षा अलंकार

प्रस्तुत की अप्रस्तुत रूप में सम्भावना की जाने को उत्प्रेक्षा अलंकार कहते हैं।

उत्प्रेक्षा का अर्थ है—'उत्कटा प्रकृष्टस्योपमानस्य ईक्षा ज्ञानं उत्प्रेक्षा पदार्थः।' [1]अर्थात् उपमान का उत्कटता से ज्ञान किया जाना। 'सम्भा-

---

१ काव्यप्रकाश बालबोधिनी व्याख्या पृ० ७०८।

वना' का अर्थ भी 'एक कोटि का प्रबल ज्ञान' है। एक ज्ञान तो समान कोटि का होता है। जैसे अँधेरे में सूखे वृक्ष के ठूंठ को देखकर सन्देह होता है कि 'यह मनुष्य है या वृक्ष का ठूंठ ?' ऐसे समान कोटिक संशय ज्ञान में मनुष्य का होना और वृक्ष के ठूंठ का होना दोनों ज्ञानों की समान कोटि होती है। ऐसा समान कोटि का ज्ञान जहाँ कवि-प्रतिभोत्पन्न—चमत्कारक—होता है वहाँ तो पूर्वोक्त सन्देह अलंकार होता है। और जहाँ ऐसे संशय ज्ञान में एक कोटि का प्रबल (उत्कट) ज्ञान होता है अर्थात् निश्चितप्राय ज्ञान मान लिया जाता है उसे सम्भावना कहते हैं—'उत्कटैककोटिः संशयः सम्भावनम्'[१]। उत्प्रेक्षा अलंकार में उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाती है।

उत्प्रेक्षा में भेद का ज्ञान रहते हुए अर्थात् उपमेय और उपमान को दो वस्तु समझते हुए उपमेय में उपमान का आरोप[२] किया जाता है। रूपक में जो आहार्य आरोप होता है वह उपमेय उपमान के अभेद में निश्चय रूप में होता है जैसे, 'मुखचंद्र' में 'मुख ही चंद्र है' यह अभेद माना जाता है। अतः मुख चन्द्र में रूपक है और उत्प्रेक्षा में संभावनात्मक आहार्य आरोप होता है। वक्ता 'मुख मानो चन्द्रमा है' इस प्रकार मुख और चन्द्रमा को वास्तव में भिन्न-भिन्न मानता हुआ मुख को चन्द्रमा मानता है। उत्प्रेक्षा में जहाँ मनु, जनु, मनहु, मानों, जानहु, निश्चय, इव, प्रायः शंके (हिन्दी में 'क्या') आदि उत्प्रेक्षा-वाचक शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ वाच्या उत्प्रेक्षा वाचक शब्दों का प्रयोग नहीं होता। वहाँ प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा होती है किन्तु जहाँ सादृश्य के बिना अर्थात् उपमेय उपमान भाव के बिना केवल सम्भावना वाचक शब्द होते हैं वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार नहीं होता है।

लक्षण में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का कथन उपलक्षण मात्र है। क्योंकि हेतूत्प्रेक्षा में उपमेय-उपमान भाव के बिना ही उत्प्रेक्षा होती है।

---

१ वस्तुतः अभेद न होने पर भी अभेद मान लिया जाता है उसे आहार्य आरोप कहते हैं।

उत्प्रेक्षा भेद इस प्रकार हैं—
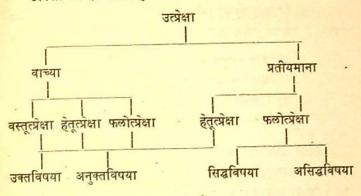
वस्तूत्प्रेक्षा

एक वस्तु की दूसरी वस्तु के रूप में सम्भावना की जाने को वस्तूत्प्रेक्षा कहते हैं।

अर्थात् जहाँ उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाती है वहाँ वस्तूत्प्रेक्षा होती है। इसको 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' भी कहते हैं। वस्तूत्प्रेक्षा उत्प्रेक्षा का विषय (आश्रय) उपमेय होता है। इसके दो भेद हैं:—

(१) उक्तविषया—जहाँ उत्प्रेक्षा का विषय कहकर अर्थात् उपमेय की सम्भावना की जाती है वहाँ उक्तविषया उत्प्रेक्षा होती है।

(२) अनुक्तविषया—जहाँ उत्प्रेक्षा का विषय उपमेय कथन न करके सम्भावना की जाती है वहाँ अनुक्तविषया उत्प्रेक्षा होती है।

उक्तविषया—

"सोहत औढ़े पीत पट स्याम सलोने गात,
मनो नील मनि-सैल पर आतप परयो प्रभात॥"

पीताम्बर धारण किये हुए श्रीकृष्ण के श्याम-तन (उपमेय) में प्रातः कालीन-सूर्य-प्रभा से शोभित नील-मणि के पर्वत पर सूर्य प्रभा (उपमान)

की सम्भावना की गई है। यहाँ पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण का श्याम-तन जो उत्प्रेक्षा का विषय है उसको पूर्वार्द्ध में कहकर उत्प्रेक्षा की गई है अतः उक्त विषया है उत्प्रेक्षा वाचक 'मनो' शब्द का प्रयोग है अतः वाच्या है।

प्रति-प्रति लतिकाओं भूरुहों पास जाके——
मुखरित मधुपाली क्या यही है बताती,
यह तरु-लतिकाएँ भाग्यशाली महा हैं,
प्रतिदिन करते श्रीकृष्ण लीला यहाँ हैं।

ब्रजंस्थ प्रेमसरोवर के इस वर्णन में प्रत्येक लता और वृक्ष के समीप जाकर गुंजायमान होने वाली भ्रमरावली के उस गुंजन में यह उत्प्रेक्षा की गई है कि वह भृङ्गावली मानो उन वृक्षलताओं को भगवान कृष्ण की लीला-स्थली बता रही है।

"आये अवधेश के कुमार सुकुमार चारु,
मंजु मिथिला की दिव्य देखन निकाई है।
सुर-रमनी-गन रसीली चहुँ ओरनि तैं,
भौरनि की भीर दौरि-दौरि उमगाई है॥
तिनके अनोखे-अनिमेष-दृग पाँतिनि पै,
उपमा तिहूँ पुर की ललकि लुभाई है।
उन्नत अटारिन पै खिरकी - दुवारिनि पै,
मानो कंज-पुञ्जनि की तोरन तनाई है॥"

देवांगनाओं के अनिमेष नेत्र पंक्तियों में कमल की बंदनवारों की उत्प्रेक्षा की गई है।

घन साँमरी चारू लसै कवरी मदिरा-मद-रक्त, प्रभा हलकी,
रमनी-मुख याहि कहैं सब लोग छली मति है जगतीतल की।
मन मेरे में है ससि बिम्ब यहै अरुनाई उदोत समैं झलकी,
निज बैर सम्हारि गह्यौ तम ने काढ़ि कंदर तें उदयाचल की॥

यहाँ मदिरा के मद से कुछ अरुणता प्राप्त नायिका के कवरी (केशपाश) सहित मुख में उदयकालीन चन्द्रमा को उदयाचल से निकल कर अन्धकार द्वारा ग्रहण करने की सम्भावना की गयी है।

ऊपर के इन सभी उदाहरणों में उत्प्रेक्षा का विषय (उपमेय) कहा गया है अतः इनमें उक्तविषया उत्प्रेक्षा है।

अनुक्तविषया उत्प्रेक्षा—

बरसत इव अंजन गगन लीपत इव तम अंग।

यहाँ रात्रि के सर्वत्र फैले हुए अन्धकार में आकाश से अंजन की बरसा होने की उत्प्रेक्षा की गयी। उत्प्रेक्षा का विषय जो अन्धकार है, वह यहाँ नहीं कहा गया है अतः अनुक्तविषया है।

इस उदाहरण में 'इव' शब्द उत्प्रेक्षा वाचक है। इव शब्द जिस शब्द के पीछे लगा रहता है वह उपमान माना जाता है—जैसे कि शाब्दी उपमा के प्रकरण में पहले बताया गया है[1], पर यहाँ 'परसत' पद तिङन्त है अर्थात् साध्य क्रिया-वाचक पद है। जहाँ तिङन्त क्रिया-वाचक पद के साथ 'इव' शब्द होता है वहाँ वह उपमान नहीं हो सकता किन्तु संभावनार्थक होता है। क्योंकि सिद्ध को उपमानता संभव है न कि साध्य को। 'न तिङन्तेन उपमानमस्तीति-महाभाष्य—३।१—७।' इसकी व्याख्या में कैय्यट ने 'किन्तु तत्र संभावनार्थकः इव शब्दः' ऐसा कहकर स्पष्ट कर दिया है।

जिस प्रकार संस्कृत में तिङन्त के साथ 'इव' शब्द उत्प्रेक्षावाचक होता है, उसी प्रकार हिन्दी में सी, सो आदि भी तिङन्त के साथ उत्प्रेक्षा वाचक होते हैं जैसे—

"सूर्योद्भासित कनक-कलश पर केतु था,
वह उत्तर को फहर रहा किस हेतु था,

---

१ देखो श्रौती उपमा पृ० ३४।

कहता-सा था दिखा-दिखा कर जो कला—
वह जंगम[1] साकेत देव मंदिर चला।"

श्रीराम-वनवास के समय अयोध्या के राजप्रासाद पर फहराती हुई ध्वजा में यह उत्प्रेक्षा की गयी है कि यह उत्तर दिशा की तरफ फहराती हुई ध्वजा 'यह जंगम साकेत जा रहा है' यह कह रही है।

यहाँ 'सा' का प्रयोग 'कहता-सा' इस तिङन्त के साथ होने के कारण उत्प्रेक्षा है।

'भारती भूषण' में—

"सजि सिंगार तिय भाल पै मृगमद बेंदी दीन्ह,
सुवरन के जय-पत्र में मदन-मुहर सी कीन्ह॥"

यह दोहा धर्म लुप्तोपमा के उदाहरण में दिया है। किन्तु 'मदन-मुहर सी कीन्ह' में 'सी' का प्रयोग तिङन्त के साथ होने के कारण उत्प्रेक्षा है, न कि लुप्तोपमा।

हेतूत्प्रेक्षा

अहेतु में हेतु की उत्प्रेक्षा की जाने को हेतूत्प्रेक्षा कहते हैं।

अर्थात् जो वास्तव में कारण न हो उसे कारण मानकर उसकी उत्प्रेक्षा किया जाना। इसके दो भेद हैं—

(१) सिद्ध-विषया—उत्प्रेक्षा का विषय सिद्ध अर्थात् सम्भव हो।
(२) असिद्ध विषया—उत्प्रेक्षा का विषय असिद्ध अर्थात् असम्भव हो।

सिद्ध-विषया हेतूत्प्रेक्षा—

'लाईं श्री मिथिलेश सुता को रंगालय में सखियाँ साथ,
विश्व-विजय-सूचक वरमाला लिये हुए थी जो निज हाथ।

---

१ चलता-फिरता हुआ।

लज्जा, कांति और भूषण का उठा रही थी अतुलित भार,
मंद-मंद चलती थी मानो इसी हेतु वह अति सुकुमार।'

श्री जानकी जी के स्वाभाविक मन्द गमन में लज्जा आदि का भार उठाने का कारण बता कर उत्प्रेक्षा की गयी है, जो कि वस्तुतः कारण नहीं है। यहाँ इस कारण द्वारा उत्प्रेक्षा करने में जो भार उठाने रूप उत्प्रेक्षा का आश्रय है, वह सिद्ध है। अर्थात् भार उठाने के कारण मन्द गमन होना सम्भव है अतः सिद्ध-विषया है।

असिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा—

'प्रिय कुमुदिनी हुई निमीलित रही दृष्टि-पथ रजनी भी न,
हुए समस्त अस्त तारागण रहा सुपरिजन[1] चिह्न कहीं न।
चिन्ता-ग्रस्त इसी से हिमकर[2] होकर विगत-प्रभा प्रभात,
जलनिधि में गिरता है मानो क्षितिज-निकट जाकर अचिरात॥'

प्रभात में चन्द्रमा का कांति-हीन होकर क्षितिज पर जला जाना स्वाभाविक है। यहाँ क्षितिज पर जाने के कारण में नष्ट परिजनों की चिन्ता होने की उत्प्रेक्षा की गयी है जो कि वस्तुतः कारण नहीं है। चन्द्रमा का होना असम्भव है, अतः असिद्ध-विषया है।

'तरुणियों के हृदय को अपना बनाकर स्थान यह,
चाहता रहना अहो! अब भी वहाँ दृढ़ मान यह,
'उदित होने के समय यह जान कर कोपित हुआ?
क्या इसी से चन्द्रमा अत्यन्त यह लोहित हुआ।'

उदित होते समय चन्द्रमा की स्वाभाविक रक्तता में मानवती नायिकाओं के मान दूर न होने से क्रोध के कारण अरुण होने की उत्प्रेक्षा की गयी है जो कि वस्तुतः कारण नहीं है। चन्द्रमा का कामिनी नायिकाओं पर कुपित होना असम्भव है अतः असिद्ध-विषया है।

---

१ कुटुम्ब। २ चन्द्रमा।

'सहता न विकास कभी निशि में शशि है यह कंज का शत्रु सदा।
उसका तुम गर्व विनास प्रिये ! करती अपने मुख की प्रतिभा से ?॥
यह मान बड़ा उपकार अतः अरविंद कृतज्ञ हुआ सुख पा के।
मत मेरे में अर्पण की उसने पद तेरे सभी सुखमा निज आके[1]॥'

रूपवती रमणियों के चरणों में स्वाभावतः कोमलता और सुन्दरता होती है। यहाँ उस सौन्दर्य का कारण कमल द्वारा अपनी शोभा तरुणी-के चरणों में अर्पण करना कहा गया है। यह असम्भव है अतः असिद्ध विषया है।

फलोत्प्रेक्षा

अफल में फल की सम्भावना की जाने को फलोत्प्रेक्षा कहते हैं।

अर्थात् फल न हों उसमें फल की कल्पना किया जाना। यह भी सिद्ध-विषया और असिद्ध-विषया दो प्रकार की होती है।

सिद्ध-विषया—

"मधुप निकारन के लिए मानहु रुके निहारि,
दिनकर-निज-कर देतु है सतदल-दलन उघारि।"

प्रातःकाल कमलों का विकसित हो जाना स्वाभाविक है, न कि रात्रि में कमलकोश में रुके हुए भौंरों को निकलने के लिए सूर्य द्वारा कमलों को विकसित किया जाना, किन्तु यहाँ सूर्य द्वारा कमलों का विकसित करना भौंरों को निकालने के लिये कहकर उत्प्रेक्षा की गयी है।

असिद्ध-विषया फलोत्प्रेक्षा—

"मंगलमय कल्यानमय अभिमत-फल-दातार,
जनु सब सांचे होन हित भये सगुन इकबार॥"

---

१ कमल जाति के द्वेषी चन्द्रमा के सौन्दर्य का गर्व तूने अपनी मुख कान्ति से दूर कर दिया है, इसी उपकार को मानकर मानों कमल ने अपनी शोभा, हे प्रिये, तेरे चरणों में अर्पित कर दी है।

श्री रघुनाथ जी की बरात के प्रस्थान के समय स्वाभाविक होने वाले अनेक शुभ शकुनों के होने की इस फल की इच्छा से कि 'आगे को हम सच्चे माने जायँ', उत्प्रेक्षा की गयी है तिर्यक् योनि पक्षियों के ऐसी इच्छा का होना असम्भव है अतः असिद्ध-विषया फलोत्प्रेक्षा है।

प्रतीयमाना-हेतूत्प्रेक्षा—

"बालपन बिसद बिताई उदयाचल पै,
संवलित कलित कलानि ह्वै उमा है।
कहै 'रत्नाकर' बहुरि तम-तोम जीत,
उच्च पद आसन लै सासन उछाहै है॥
पुनि पद सोऊ त्यागि तीसरे विभाग माँहि,
न्यून तेज ह्वै कै सून पावस में आवै है।
जानि पन चौथो अब भेष कै भगौहैं भानु,
अस्ताचल थान में पयान कियो चाहै है॥"

यहाँ सूर्य के अस्ताचल पर जाने का कारण उसका चौथापन कहा गया है, जो कि वस्तुतः कारण नहीं है। उत्प्रेक्षा वाचक शब्द न होने के कारण प्रतीयमाना है।

प्रतीयमाना फलोत्प्रेक्षा—

"राधा-तन सम हौन हित हेम तपत है आगि।"

सुवर्ण का अग्नि में तपित होना यहाँ श्री—"वृषभानुनन्दिनी के तन कान्ति के समान होने के फल के लिये कहा गया है किन्तु वस्तुतः सुवर्ण का तापित होना इस फल के लिये नहीं है।

"इमि सगर-नृपति-नंदन सकल कपिल-कोप परि जरि गये।
यह साठ सहस नर-मेध मख गंग-अवतरन हित भये॥"

सगर राजा के साठ हजार पुत्रों का भगवान् कपिल के कोप द्वारा जलना—यहाँ श्री गंगा जी के अवतरण के लिये इस फल के लिये साठ हजार

नर-मेध यज्ञ होने की उत्प्रेक्षा की गयी है। यहाँ भी अफल की सम्भाव
है। उत्प्रेक्षावाचक शब्द का प्रयोग न होने से प्रतीयमाना है।

श्लेष मूला उत्प्रेक्षा—

'ललितालका[1] सुशोभित,
लोभित करती है वैश्रवण-श्री[2] भी।
तेरी कपोल पाली,
आली! क्या दिशा राजराजवाली[3] है॥'

नायिका की कपोलस्थली की उत्तर दिशा के रूप में उत्प्रेक्षा की
है। 'ललितालका' और 'वैश्रवण' पद श्लिष्ट हैं।

सापह्नव-उत्प्रेक्षा—

"आता है चलके प्रवाह गिरि से पा वेग की तर्जना—
होती है ध्वनि सी न, किन्तु करती मानों वही गर्जना।
बीची-क्षोभ-खिली सुदन्त-अवली ये फेन आभास है,
श्री गंगा कलि काल का कर रहीं मानों इड़ा हास है॥"

यहाँ श्री गंगा के फेनों का (झागों का) निषेध करके उसमें
काल के हास्य करने की उत्प्रेक्षा की गयी है अतः यह सापह्नवउत्प्रेक्ष

अन्य अलंकारों से उत्प्रेक्षा का पृथक्करण—

भ्रांतिमान अलंकार में एक वस्तु में अन्य वस्तु की कल्पना की
में सत्य वस्तु का ज्ञान नहीं होता है, कवि द्वारा ही सत्य वस्तु का
किया जाता है। उत्प्रेक्षा में वस्तु के सत्य स्वरूप का भी ज्ञान रहता

---

१ ललित अलका—सुन्दर कुबेर की राजधानी।
२ वैष्णव श्री—कुबेर की सम्पत्ति शोभा।
३ राजराज नाम भी कुबेर का है, कुबेर उत्तर दिशा के पति है
उत्तर दिशा को कुबेर की दिशा कहा है।

सन्देह अलंकार में ज्ञान की दोनों कोटियाँ समकक्ष प्रतीत होती हैं। उत्प्रेक्षा में एक कोटि, जिसकी उत्प्रेक्षा की जाती है, प्रबल रहती है।

(१५) अतिशयोक्ति अलंकार

अतिशय का अर्थ है अतिक्रान्त—'अतिशयतः अतिक्रान्ते। (शब्द-चिन्तामणि)। अर्थात् उल्लंघन। अतिशयोक्ति अलंकार में लोक-मर्यादा का उल्लंघन करने वाली उक्ति होती है।

अतिशयोक्ति का विषय बहुत व्यापक है। शब्द और अर्थ की जो विचित्रता (अलंकारिता) है वह अतिशयोक्ति के ही आश्रित है। अतिशयोक्ति के भिन्न-भिन्न चमत्कारों की विशेषता से अलंकारों के भिन्न-भिन्न नाम निर्दिष्ट किये गये हैं। जहाँ किसी चमत्कार उक्ति में किसी विशेष अलंकार का नाम निर्दिष्ट नहीं किया गया हो, वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार कहा जा सकता है। आचार्य दण्डी ने सन्देह, निश्चय, मीलित, और अधिक आदि बहुत से अलंकारों को पृथक् न लिखकर अतिशयोक्ति प्रकरण के अन्तर्गत ही लिखा है।

लोक-सीमा के उल्लंघन के वर्णन में अतिशयोक्ति नामक एक विशेष अलंकार माना गया है, उसके भेद इस प्रकार हैं—
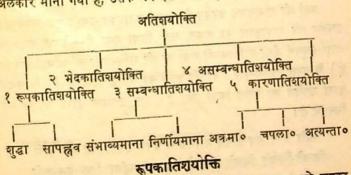
रूपकातिशयोक्ति

उपमान द्वारा निगरण किये हुए उपमेय के अध्यवसाय को रूपकातिशयोक्ति कहते हैं।

निगरण का अर्थ है निगल जाना अर्थात् उदर-गत कर लेना और अध्यवसाय का अर्थ है आहार्य अभेद[1] का निश्चय। रूपकातिशयोक्ति में उपमेय (आरोप के विषय) का कथन न किया जाकर केवल उपमान (आरोप्यमाण) के कथन द्वारा उपमेय का वर्णन किया जाता है। अर्थात् भेद में अभेद कहा जाता है अथवा उपमेय और उपमान दो पदार्थ होने के कारण दोनों में भेद होते हुए भी उपमेय कथन न किया जाकर केवल उपमान कहा जाता है।

रूपकातिशयोक्ति का रूप से पृथक्करण—

रूपक में उपमेय और उपमान दोनों का कथन होता है। अतः केवल आहार्य अभेद होता है और अतिशयोक्ति में केवल उपमान का कथन किया जाता है अतः आहार्य अभेद का निश्चय होता है।

रूपकातिशयोक्ति का उदाहरण—

'यमुना-तट कानन में स्थित है मिलता करने पर खोज पता,
जन आश्रित जो रहते, उनका पथ-खेद सभी रहता हरता।
कनकाभ-लता अवलंबित है वह श्याम-तमाल सदा स्फुरता,
अवलंब अरे! झट ले उसका अब क्यों यह ताप वृथा सहता।'

यहाँ श्री राधाकृष्ण उपमेय है। सुवर्ण-लतायुक्त तमाल वृक्ष उपमान। उपमेय श्री राधाकृष्ण का कथन, नहीं किया गया है—केवल कनकाभ लता (सुवर्ण जैसी कान्तिवाली लता जो श्री राधिकाजी का प्रसिद्ध उपमान है) से युक्त तमाल-वृक्ष (जो श्री कृष्ण का प्रसिद्ध उपमान है) के कथन द्वारा उपमेय का वर्णन किया गया है। अतः उपमान द्वारा उपमेय का निगरण है।

"सखि! मैं भव-कानन में निकली बनके इसकी वह एक कली,
खिलते-खिलते जिससे मिलने उड़ आ पहुँचा हिल हेम-अली,

---

१ आहार्य-अभेद अर्थात् अभेद न होने पर भी मान लेना।

मुसकाकर अलि ! लिया उसको तब लौं वह कौन बयार चली,
'पथ देख जियो' यह गूंज यहाँ किस ओर गया वह छोड़ छली ॥"

उर्मिला की इस उक्ति में लक्ष्मण जी उपमेय और हेम-अली (पीत-कान्तिवाला भ्रमर) उपमान है। उपमेय लक्ष्मण जी का शब्द द्वारा कथन नहीं है। केवल उपमान हेम-अली का कथन किया गया है। यहाँ भव में कानन के (वन में) आरोप में और उर्मिला में कली के आरोप में जो रूपक है वह अतिशयोक्ति का अंग है।

सापह्नव रूपकातिशयोक्ति—

अपह्नुति के साथ यहाँ रूपकातिशयोक्ति होती है वहाँ सापह्नव रूपकातिशयोक्ति होती है।

"अहि विधु-मंडल पै लसे जिय पतारू जिन जानु।"

यहाँ मुख और केश उपमेयों का कथन न कर केवल मुख के उपमान विधु-मंडल (चन्द्रमा) और केश उपमान सर्प का कथन किया गया है और पाताल में सर्प का निषेध किया गया है अतः सापह्नव रूपकातिशयोक्ति है।

"प्यारी चलि नँदनंद पै फूलि रहे बहु फूल,
तेरे मुख में चांदनी ससि में कहत सु भूल।"

यहाँ दन्तावली-उपमेय का कथन नहीं केवल उपमान—चाँदनी का कथन है और चंद्रमा में चाँदनी का निषेध किया गया है।

भेदकातिशयोक्ति

उपमेय के अन्यत्व वर्णन में भेदकातिशयोक्ति होती है।

रूपकातिशयोक्ति में भेद होता है और भेदकातिशयोक्ति में अभेद में भेद होता है अर्थात् वास्तव में भेद न होने पर भी भेद कथन किया जाता है।

'है धन्य धन्य रचना वचनावली की,
लोकोत्तरा प्रकृति लोक-हितैषणी भी।
जो कार्य आर्य-पथ-दर्शन है उन्हीं के--
हे मित्र ! वे सब विचित्र महज्जनों के।'

यहाँ सज्जनों के लौकिक चरित्रों में 'अन्य लोकोत्तर' और 'विचित्र' पदों के द्वारा भेद वर्णन किया गया है।

"औरैं भाँति कुंजन में राग रत भौंर भीर
औरैं भाँति झौंरनि में बौरन के न्वै गये।
कहै 'पद्माकर' सु औरे भाँति गलियान-
छलिया छबीले छैल औरैं छबि छ्वै गये।
औरैं भाँति विहग समाज में अवाज होति,
अबै रितुराज के न आज दिन द्वै गये।
औरैं रस औरैं रीति औरैं राग औरैं रंग,
औरैं तन औरैं मन औरैं बन ह्वै गये॥"

वसन्त आगमन के इस वर्णन में 'औरैं' शब्द के द्वारा कुन्ज आदि में भेद न होने पर भी भेद कहा गया है।

सम्बन्धातिशयोक्ति

असम्बन्ध में सम्बन्ध कल्पना किये जाने को सम्बन्धातिशयोक्ति कहते हैं।

इसके दो भेद हैं—

(१) सम्भाव्यमाना—जहाँ 'यदि' 'जो' आदि शब्दों के प्रयोग द्वारा असम्भव कल्पना की जाय।

(२) निर्णीयमाना—जहाँ निर्णीत रूप से असम्भव कल्पना की जाय। अर्थात् निर्णीत रूप से असम्भव वर्णन किया जाय।

संभाव्यमाना—

"करतल परस्पर शोक से उनके स्वयं घर्षित हुए'
तब विस्फुरित होते हुए भुजदंड यों दर्शित हुए,
दो पद्म शुंडों में लिये दो शुण्ड वाला गज कहीं—
मर्दन करै उनको परस्पर तो मिलै समता वहीं ॥"

यह 'कहीं' शब्द द्वारा दो सूंडवाले हाथी की असम्भव कल्पना की गयी है। अर्थात् दो सूंड़वाले हाथी के होने का सम्बन्ध न होने पर भी 'कहीं' शब्द के प्रयोग द्वारा असम्भव सम्बन्ध कल्पित किया गया है।

जहाँ 'यदि' और 'जो' आदि के प्रयोग होने पर भी वास्तविक वर्णन होता है वहाँ यह अलंकार नहीं होता है। जैसे—

"सक्र जो न मांग लेतो कुण्डल कवच पुनि,
चक्र जो न लीलती धरन रथ धारतो।
कुन्ती जो न सरन समेटि लेती द्विजराज
साप जो न होतो, सल्य सारथी न जारतो ॥
'तोषनिधि' जो पै प्रभु पीतपट लारो बसि
सारथीपने को कछु कारज न सारतो।
तो तो बीर करन प्रतापी रविनन्दन सु—
पांडु सुत-सेना को चबेना कर डारतो ॥"

यहाँ 'जो' आदि शब्दों का प्रयोग है परन्तु कर्ण की और पाण्डवों की वास्तविक अवस्था का वर्णन होने के कारण अलंकार नहीं है।

सम्भाव्यमाना अतिशयोक्ति को चन्द्रालोक और कुवलयानन्द में 'सम्भावना' नाम का एक स्वतंत्र अलंकार माना है।

निर्णीयमाना—

'जलद ! गरज करु नाहिं सुनि मेरो मासिक गरभ,'
गुनि मत-गज-धुनि-ताहि उछरतु है मेरे उदर।'

मेघ-गर्जना को गज-ध्वनि समझ कर सिंहनी के गर्भ का उछलना

असम्भव है अतः सम्बन्ध न होने पर भी यहाँ कहा गया है और निश्चित रूप से सम्बन्ध कहा गया है अतः निर्णीयमाना अतिशयोक्ति है। यहाँ 'यदि' 'जो' आदि का प्रयोग नहीं किया गया है।

सम्बन्धातिशयोक्ति

सम्बन्ध में असम्बन्ध कहने को असम्बन्धातिशयोक्ति कहते हैं।

"बिधि हरि हर कबि कोविद बानी, कहत साधु-महिमा सकुचानी।"

संत जनों की महिमा के भगवान् हरि और हर की वाणी द्वारा कथन किये जाने का सम्बन्ध होने पर भी असम्बन्ध कहा गया है।

"नैनन की गति गूढ़ चलाचल 'केसवदास' अकास' चढ़ैगी,
माइ कहाँ यह जायगी दीपति जो दिन द्वै यहि भाँति बढ़ैगी।"

यहाँ अंगकांति का नायिका के शरीर में या लोक में समा जाने का सम्बन्ध होने पर भी 'माइ कहाँ जायगी' पद से असंबंध कहा है।

कारणातिशयोक्ति

कारण और कार्य के पौर्वापर्य विपर्यय में कारणातिशयोक्ति होती है।

सर्वत्र कारण पहिले और कार्य उसके बाद हुआ करता है। जहाँ इसके विपरीत वर्णन होता है, वहाँ यह अलंकार होता है।

इसके तीन भेद हैं—

१ अक्रमातिशयोक्ति

जहाँ कार्य और कारण का एक ही काल में होना कहा जाता है वहाँ अक्रमातिशयोक्ति होती है।

"उठ्यो संग गज-कर-कमल चक्र चक्र-धर हाथ,
कर ते चक्ररू नक्र-सिर धर ते विलग्यो साथ।"

यहाँ गज, शुण्ड से कमल का उठाना यह कारण और श्री हरि के हाथ से सुदर्शन-चक्र का उठना यह कार्य, दोनों का एक ही साथ होना कहा गया है।

"¹उतैं वे निकारैं बर-माला दृश्य संपुट सौं,
इतैं अखै तून सौं निकारत ही बान के।
उतैं देव-बधू माल-ग्रन्थि को सँधान कर,
गांडीव की मुरवी पं होत ही सँधान के ।।
इतैं जापै कोप की कटाक्ष भरे नैन परैं,
उतैं भर काम का कटाक्ष प्रेम पान के।
मारिबे को बरबे को दोनों एक साथ चलैं,
इतैं पार्थ-हाथ उतैं हाथ अप्छरान के।"

यहाँ अर्जुन द्वारा अक्षय-तूण से बाणों का निकालना, आदि कारण, और युद्ध में मरने के पश्चात् वीर पुरुषों को स्वर्गलोक में अप्सराओं का प्राप्त होना यह कार्य—दोनों एक ही साथ होना कहा गया है।

२ चपलातिशयोक्ति

जहाँ कारण के ज्ञान-मात्र से कार्य का होना कहा जाता है वहाँ चपलातिशयोक्ति होती है।

'जाऊँ कै जाऊँ न' यह सुनतहि पिय-मुख बात,
ढरकि परे कर सों वलय सूख गये तिय-गात।'

यहाँ प्रिय-गमन रूप कारण के ज्ञान मात्र से नायिका के हाथ से कंकण के ढीले होकर गिर जाने और शरीर के सूख जाने रूप कार्य का होना कहा गया है।

---

१ यहाँ अर्जुन के युद्ध का वर्णन है। तूणीर से बाण के निकालते ही स्वर्ग में अप्सराएं वर-माला निकालने लगती हैं। गांडीव पर बाण के खैंचते ही देवांगनाएं वरमालाओं की ग्रंथियों को खैंचने लगती हैं। क्रोध से भरे अर्जुन के कटाक्ष जिस शत्रु पर गिरते हैं, अप्सराओं के काम कटाक्ष उस पर गिरने लगते हैं। कौरवों के वीरों को मारने के लिए अर्जुन के हाथ और उनके वरने के लिए अप्सराओं के हाथ एक साथ ही चलते हैं।

३ अत्यंतातिशयोक्ति

जहाँ कारण के प्रथम ही कार्य का होना कथन किया जाता है वहाँ अत्यंतातिशयोक्ति होती है।

"अजब अखंड बाँह बलित तला लौं बसी
मंडित विरद मारू मंत्र-भी पढ़ति है।
परम निसंक पान कीबे की रुधिर चाह
'लछिराम' साहस अभंग में बढ़ति है।
रावरी कृपान रन रंग बीच रामचंद्र!
बंक बढ़ि फन पै बहाली यों चढ़ति है।
प्रान पहिले ही हरैं असुर सँघातनि के
पीछे पन्नगी लौं म्यान-बांबी तें कढ़ति है।।"

यहाँ कृपान का म्यान से निकलना जो कारण है, उसके प्रथम ही राक्षसों के प्राणान्त होने रूप कार्य का होना कहा गया है।

"रमत रमा के संग आनंद-उमंग भरे
अंग परे थहरि मतंग अवराधे पै।
कहै 'रत्नाकर' बदन-दुति औरैं भई
बूदैं छई छलकि दृगनि नेह-नाधे पै।
धाये उठि वार न उबारन में नाई रंच
चंचला हू चकित रही है वेग साधै पै।
आवत वितुंड[1] की पुकार मग आधे मिली
लौटत मिल्यौ तौ पच्छिराज[2] मग आधे पै।।"

यहाँ गजेन्द्र की पुकार सुनने रूप कारण के प्रथम ही उसके उद्धार करने के लिये प्रस्थान करने रूप कार्य का होना कहा गया है।

---

१ हाथी। २ गरुड़।

(१६) तुल्ययोगिता अलंकार

तुल्ययोगिता का अर्थ है तुल्य पदार्थों का योग अर्थात् सम्बन्ध तुल्ययोगिता अलंकार में अनेक प्रस्तुतों का या अप्रस्तुतों का गुण या क्रिया रूप एक धर्म में योग अर्थात् अन्वय आदि होता है। इसके भी तीन भेद हैं—

प्रथम तुल्ययोगिता

अनेक प्रस्तुतों (उपमेयों) के अथवा अप्रस्तुत (उपमानों) के एक ही बार एक धर्म कहे जाने को प्रथम तुल्ययोगिता अलंकार कहते हैं।

प्रथम तुल्ययोगिता में औपम्य (उपमेय--उपमान भाव) गम्य (छिपा हुआ) रहता है। अर्थात् अनेक उपमेयों का अथवा अनेक उपमानों का एक धर्म कहा जाता है। किन्तु उपमा की तरह तुल्ययोगिता में सादृश्य की योजना करने वाले साधारण-वाचक शब्द का प्रयोग नहीं होता है।

प्रस्तुतों का एक धर्म—

"कहै यहै श्रुति सुमृति औ यहै सयाने लोग,
तीन दबावत निसक ही पातक राजा, रोग।"

यहाँ पातक, राजा और रोग इन तीनों प्रस्तुतों का 'निसक ही दबावत' यह एक धर्म कहा गया है।

"भूषन भूषित दूषन-हीन प्रवीन महारस में छवि आई,
पूरी अनेक पदारथ तें जिह में परमारथ स्वारथ पाई,
औ उकतै मुकतैं उलही कवि 'तोष' अनोप भई चतुराई,
होत सबै सुखकी जनिता बनि आवतु जो बनिता कविताई॥"

यहाँ बनिता और कविता दोनों प्रस्तुतों का भूषन-भूषित आदि एक धर्म कहे गये हैं। यह श्लेष-मिश्रित है।

'कपट-नेह[1] असरल[2] मलिन करन निकट[3] नित बास,
गनिका कुटिल-कटाक्ष, खल दोऊ ठगत स-हास॥'

---

१ मिथ्या प्रेम। २ कटाक्ष पक्ष में बांका होना, खल पक्ष में कुटिल। ३ कटाक्ष पक्ष में कानों के समीप, खल पक्ष में कानों में दूसरे की चुगली करना।

यहाँ गणिका के कटाक्ष और खल ये दोनों प्रस्तुत हैं—वर्णनीय हैं इनका 'हँसते हुए औरों को ठगना' एक ही क्रिया रूप धर्म कहा गया है यह भी श्लेष-मिश्रित है।

अप्रस्तुतों का धर्म—

"लखि तेरी सुकुमारता एरी ! या जग माँहिं,
कमल गुलाब कठोर से किहिं को लागत नाँहिं ॥"

यहाँ नायिका की सुकुमारता के वर्णन में कमल और गुलाब इन दोनों उपमानों का एक ही धर्म कहा गया है।

दूसरी तुल्ययोगिता

हित और अनहित में तुल्य-वृत्ति वर्णन में दूसरी तुल्ययोगिता होती है।

अर्थात् जब मित्र और शत्रु के साथ एक ही समान व्यवहार किया जाता है—

'प्रफुल्लता प्राप्त जिसे न राज्य से
न म्लानत भी वन-वास से जिसे।
मुखाम्बुज-श्री रघुनाथ की वही
सुख-प्रदा हो हमको सदैव ही।'

यहाँ 'राज्य-प्राप्त होना' इस हित में और 'वनवास को जाना' इस अनहित में श्री रघुनाथ जी के मुख कमल की शोभा समान वृत्ति कही गई है।

"जे तट पूजन को बिसतारैं पखारैं जे अंगन की मलिनाई,
जो तुव जीवन लेत हैं जीवन देत हैं जे करि आप ढिठाई,
'दास' न पापी सुरापी तपों अरु जापी हितू अहितू बिलगाई,
गंग ! तिहारी तरंगन सों सब पावैं पुरन्दर की प्रभुताई ॥"

यहाँ पूजन करनेवाले और शरीर का मल धोने वाले अर्थात् हितकर और अहितकर दोनों को श्रीगंगाजी द्वारा इन्द्र की प्रभुता दिया जाना यह समान व्यवहार कहा गया है।

तीसरी तुल्ययोगिता

प्रस्तुत की (उपमेय की) उत्कृष्ट गुणवालों के साथ गणना की जाने को तीसरी तुल्ययोगिता कहते हैं।

मम्मट आदि आचार्यों ने इस तीसरी तुल्योगिता को 'दीपक' अलंकार के अन्तर्गत माना है, क्योंकि इसमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का एक धर्म कहा जाता है।

"कामधेनु अरु कामतरु चिन्तामनि मन मानि
चौथो तेरो सुजस हूँ है मनसा के दानि॥"

यहाँ राजा के यश (प्रस्तुत) को कामधेनु आदि वांछित फल देनेवाली उत्कृष्ट वस्तुओं के साथ गणना करके उन्हीं के समान वांछित फलदायक कहा गया है।

"एक तुही वृषभानु-सुता अरु तीनि हैं वो जु समेत सची हैं,
और न केतिक राजन के कविराजन की रसनायें नची हैं,
देवी रमा कवि देव' उमा ये त्रिलोकी में रूप की राशि मची हैं
पैंवर-नारि महा सुकुमारि ये चारि विरञ्चि विचारि रची हैं॥"

यहाँ वर्णनीय श्रीवृषभानु-सुता का शची, रमा और उमा इन तीनों उत्कृष्टों के साथ उन्हीं के समान बताकर वर्णन किया गया है।

(१७) दीपक अलंकार

प्रस्तुत और अप्रस्तुत के धर्म कहने को दीपक अलंकार कहते हैं।

दीपक अलंकार का नाम दीपक न्याय के अनुसार है अर्थात् जैसे एक स्थान पर रखा हुआ दीपक बहुत-सी वस्तुओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार दीपक अलंकार में गुणात्मक या क्रियात्मक कर्म धर्म द्वारा प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के स्वरूप का प्रकाश किया जाता है।

तुल्ययोगिता में केवल उपमेयों का अथवा केवल उपमानों का ही धर्म कहा जाता है। और दीपक में उपमेय और उपमान दोनों का एक धर्म कहा जाता है। इन दोनों में यही भेद है।

दीपक का उदाहरण है—

"बल गर्वित सिसुपाल यह अजहूँ जगत सतातु,
सती-नारि निश्चल-प्रकृति परलोकहु सँग जातु॥"

श्रीकृष्ण के प्रति देवर्षि नारद की उक्ति है। शिशुपाल की निश्चल प्रकृति (स्वभाव) का वर्णन प्रस्तुत है (प्रकरणगत है) और पतिव्रता स्त्री अप्रस्तुत। इन दोनों का 'परलोकहु संग जात' यह एक धर्म कहा गया है।

"निज-पति-रति कुलटान, खलन प्रेम अरु अहिन सम।
कृपन जनन को दान, विधि जग सिरजे ही नहीं॥"

यहाँ सर्प अप्रस्तुत का और कुलटा, खल तथा कृपण प्रस्तुतों को 'सिरजे नहीं' यह अभाव रूप एक धर्म कहा गया है।

"छोटे छोटे पेड़नि को सूरन की बारि करो
पातरे से पौधा पानी पोखि प्रतिपारिबो।
फूले फूले फल सब बीनि इक ठौर करौ
घने घने रूख एक ठौर तें उखारिबो।
नीचे गिरि गये तिन्हें दै दै टेक ऊँचे करौ
ऊँचे चढ़ि गये ते जरूर काटि बो।
राजन की मालिन को प्रतिदिन 'देवीदास'
चारि राडि घिरी रातिरहे इतनी बचारिबो॥"

यहाँ राजा प्रस्तुत और माली अप्रस्तुत है। इन दोनों के एक धर्म कहे गये हैं।

'नदी-प्रवाह रु ईख रस द्यूत मा-संकेत,
भ्रू-लतिका पाँचौ यहै भंग भये सुख देत॥'

यहाँ भ्रू-लता और मान प्रस्तुत हैं और नदी-प्रवाह, ईख रस तथा द्यूत अप्रस्तुत हैं। इनका चौथे चरण में एक धर्म कहा गया है। यह श्लेष-मिश्रित दीपक है।

"धरि राखौ ज्ञान गुन गौरव गुमान गोइ,
गोपिनि कौं आवत न भावत भड़ंग है।
कहै 'रतनाकर' करत टाँय टाँय वृथा,
सुनत न कोऊ इहाँ यह मुहचंग है।
और हू उपाय केते सहज सुढंग ऊधौ!
साँस रोकिबे कौं कहा जोग ही कुढंग है।
कुटिल कटारी है अटारी है उतंग[1] अति,
जमुन-तरंग[2] है तिहारौ सतसंग[3] है॥"

यहाँ कटारी, ऊँची अटारी, जमना की तरंग अप्रस्तुत और उद्धव जी का संग प्रस्तुत इन चारों का स्वास रोकने (मृत्यु-कारक होने) रूप एक धर्म कहा गया है।

दीपक और तुल्ययोगिता का पृथक्करण—

पण्डितराज के मत के अनुसार दीपक अलंकार तुल्ययोगिता के ही अन्तर्गत है। उनका कहना है कि "केवल प्रस्तुतों के अथवा केवल अप्रस्तुतों के एक धर्म कहने में जब तुल्ययोगिता के दो भेद कहे गये हैं तब प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के एक धर्म कथन किये जाने में कोई विशेष विलक्षणता न होने के कारण इसे भी तुल्ययोगिता का ही एक भेद माना जाना उचित है।" किन्तु हमारे मत में दीपक और तुल्ययोगिता को जुदा-जुदा अलंकार न माना जाय तो तुल्ययोगिता को ही दीपक के अन्तर्गत माना जाना उचित होगा, न कि दीपक को तुल्ययोगिता के अन्तर्गत। क्योंकि भरत मुनि ने

---

१ 'ऊँचे मकान से गिर जाना'। २ 'यमुनाजी की धारा में डूब जाना'। ३ उद्धव द्वारा वैराग्य का उपदेश सुनना भी गोपी जनों ने मृत्यु के समान ही असह्य सूचन किया है।

चार ही अलंकार प्रधान लिखे हैं जिनमें एक दीपक भी है। अत दीपक का अस्तित्व न रहना युक्ति-युक्त नहीं।

(१८) कारक-दीपक अलंकार

बहुत-सी क्रियाओं में एक ही कारक[1] के प्रयोग से कारक-दीपक अलंकार होता है।

कारक-दीपक अलंकार में दीपक न्याय[2] के अनुसार अनेक क्रियाओं का एक कारक होता है।

"दूर करतु है कुमति करतु है विमल, स-मल-चित्त,
चिर संचित तन-ताप करतु है चुलक सकल नित,
अखिल चराचर माँहि करतु करुना हैं वितरित,
मंगलमय सतसंग कहा नहिं करतु कहो हित॥"

यहाँ कुमति को दूर करने, चित्त को विमल करने आदि अनेक क्रियाओं का कारक एक ही सत्संग कहा गया है।

"बता अरी ! अब क्या करूँ रुपी रात से रार,
भय खाऊँ, आँसू पियूँ, मन मारूँ झखमार।"

यहाँ 'भय खाऊँ' आदि अनेक क्रियाओं की उर्मिला ही एक कारक है।

"सूर - सस्त्र अरु कृपन-धन कुल-कामिनि कुल-कान,
सज्जन पर उपकार कों छोड़तु हैं गत-प्रान॥"

यहाँ कर्त्ता और कर्म के निबन्धन में दीपक है।

इसमें हँसने, रोने आदि अनेक क्रियाओं का वक्ता ही एक कारक है।

---

१ कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण यह छः कारक होते हैं। इनमें कोई भी एक कारक बहुत सी क्रियाओं में होता है।

२ दीपक न्याय के लिए देखो दीपक अलंकार।

(१६) माला-दीपक अलंकार

पूर्व कथित वस्तुओं से उत्तरोत्तर कथित वस्तुओं का एक धर्म से सम्बन्ध कहने को माला दीपक अलंकार कहते हैं।

'दीपक' और 'एकावली' इन दोनों अलंकारों के मिलने पर माला-दीपक अलंकार होता है।

माला-दीपक में दीपक न्याय के अनुसार उत्तरोत्तर कथित वस्तुओं का एक धर्म से सम्बन्ध कहा जाता है। किन्तु जो उत्तरोत्तर पदार्थ कहे जाते हैं उनमें पूर्वोक्त 'दीपक' की भांति प्रस्तुत अप्रस्तुत भाव नहीं रहता है।

> "रस सों काव्यरु काव्य सों सोहत वचन महान,
> वचनन ही सों रसिक-जन तिनसों सभा सुजान॥"

यहाँ प्रथम कथित 'रस' से उसके उत्तर कथित काव्य का, काव्य से वचनों का, वचनों से रसिक जनों का और रसिक जनों से सभा का 'सोहत' इस एक क्रिया रूप धर्म से सम्बन्ध कहा गया है।

'भारती-भूषण' में माला-दीपक का लक्षण—'वर्ण्य अवर्ण्य की एक क्रिया का ग्रहीत मुक्त रीतिं से व्यवहार किया जाना' लिखा है। किन्तु इस लक्षण में वर्ण्य अवर्ण्य का कहा जाना अनुचित है क्योंकि इस अलंकार में सादृश्य (वर्ण्य अवर्ण्य अर्थात् उपमेय उपमान भाव) नहीं रहता है।[१] रसगंगाधर में भी स्पष्ट कहा है—'सादृश्यसम्पर्क अभावम्' पृ० ३२८।

(२०) आवृत्ति-दीपक अलंकार

अनेक वस्तुओं को स्पष्ट दिखाने के लिए प्रत्येक वस्तु के समीप दीपक द्वारा प्रकाश डाला जाता है। इस दीपक न्याय के अनुसार आवृत्ति दीपक में एक ही क्रिया द्वारा अनेक पद, अर्थ और पद-अर्थ दोनों प्रकाशित किये

---

१ 'प्रस्तुत प्रस्तुतोभयविषयत्वाभावेंपिदीपकच्छायापत्तिमात्रेण-दीपकव्युपदेशः' कुवलयानन्द।

जाते हैं। इसके तीन भेद हैं—पदावृत्ति, अर्थावृत्ति और पदार्थवृत्ति। जिनकी आवृत्ति होती है वे पद प्रायः क्रियात्मक होते हैं।

पदावृत्ति दीपक

भिन्न-भिन्न अर्थ वाले एक ही क्रियात्मक पद की आवृत्ति होना।

"घन बरसैं हैं री! सखी, निसि बरसैं हैं देख॥"

यहाँ भिन्नार्थ वाले 'बरसैं हैं' क्रियात्मक पद की आवृत्ति है। 'बरसैं हैं' का अर्थ घन के साथ बरसात होना है और निशि के साथ संवत्सर है।

अर्थावृत्ति दीपक

एक ही अर्थ वाले भिन्न-भिन्न शब्दों की आवृत्ति होना।

"दौरहिं संगर मत्तगज धावहिं हय समुदाय,
नटहिं रंग में बहुनटी नाचहिं नट हरषाय॥"

यहाँ एकार्थ 'दौरहिं' और 'धावहिं' क्रियात्मक शब्दों की आवृत्ति है।

पदार्थावृत्ति दीपक

ऐसे पद की आवृत्ति होना जिसमें वही शब्द और वही अर्थ हों।

"मीन मृग खंजन खिस्यान भरे मैन बान
अधिक गिलान भरे कंज-कल ताल के,
राधिका रसीली के छौर छबि छाक भरे
छैलता के छोर भरे भरे छवि जाल से।
'ग्वाल' कवि आन भरे सान भरे स्यान भरे
कछू अलसान भरे भरे मान-माल के,
लाज भरे लाग भरे लाभ भरे लोभ भरे
लाली भरे लाड़ भरे लोचन हैं लाल के॥"

यहाँ एक ही अर्थवाले 'भरे' क्रिया-वाचक पद की कई बार आवृत्ति है।

'आवृत्ति-दीपक' अलंकार का 'पदावृत्ति' भेद यमक के और पदार्थावृत्ति भेद 'अनुप्रास' से भिन्न नहीं। कुछ लोग पदावृत्ति की यमक से और पदार्थावृत्ति दीपक की अनुप्रास से यह भिन्नता बतलाते हैं कि दीपक में क्रिया-वाचक पद और पद-अर्थ दोनों की आवृत्ति होती है। यमक और अनुप्रास में क्रिया-वाचक पद और पदार्थों का नियम नहीं होता है। किन्तु सरस्वती-कण्ठाभरण के अनुसार आवृत्तिदीपक, केवल क्रिया-वाचक शब्दों के प्रयोग द्वारा ही नहीं किन्तु क्रिया-वाचक शब्दों के विना भी होता है जैसे —

"जय जग-कारन जय वरद जय करुना-सुखकन्द,
जय ससि-सेखर त्रिपुर-हर जय हर, हर-दुखद्वन्द ॥"

यह 'जय' शब्द की आवृत्ति में दीपक है।

(२१) प्रतिवस्तूपमा अलंकार

उपमेय और उपमान के पृथक्-पृथक् दो वाक्यों में एक ही समान-धर्म शब्द-भेद द्वारा करने को प्रतिवस्तूपमा अलंकार कहते हैं।

'प्रतिवस्तूपमा' का अर्थ है प्रति वस्तु (प्रत्येक वाक्यार्थ) के प्रति उपमा। यहाँ उपमा शब्द का प्रयोग समान धर्म के लिये है। अर्थात् उपमेय और उपमान के दो वाक्यों में एक ही समान-धर्म का पृथक् शब्द द्वारा कहा जाना।

प्रतिवस्तूपमा का अन्य अलंकारों से पृथक्करण—

१. उपमा के साधारण धर्म का एक ही बार कथन किया जाता है। न कि शब्द भेद से दोबार और उपमा-वाचक-शब्द धर्म प्रयोग होता है। प्रतिवस्तूपमा में उपमा-वाचक-शब्द का प्रयोग नहीं होता है।

२. दृष्टान्त अलंकार में यद्यपि उपमा-वाचक-शब्द का प्रयोग नहीं होता है, पर उसमें उपमेय, उपमान और समान-धर्म तीनों का विम्ब-प्रतिविम्ब भाव होता है। प्रतिवस्तूपमा में एक ही समान-धर्म शब्द-भेद से कहा जाता है।

३. दीपक और तुल्ययोगिता में समान-धर्म का एक बार एक शब्द से कथन किया जाता है और प्रतिवस्तूपमा में एक ही धर्म का पृथक्-पृथक् शब्द-भेद से दो बार कथन किया जाता है।

उदाहरण--

"आपदा-गत हू सुजन जन भाव उदार दिखाँय,
अगरु अनल में जरत हू अति सुगन्ध प्रगटाँय।"

यहाँ पूर्वार्द्ध में विपद-ग्रस्त सज्जन का वर्णन उपमेय वाक्य है। उत्तरार्द्ध में अग्नि पर जलते हुए अगरु (एक सुगन्धित काष्ठ) का वर्णन उपमान वाक्य है। इन दोनों, वाक्यों में एक ही समान-धर्म—'दिखाँय' औय 'प्रगटाँय' इन पृथक्-पृथक् शब्दों में कहा गया है—'दिखाँय' और 'प्रगटाँय' का अर्थ एक ही है केवल शब्द-भेद है।

"चटक न छाड़त घटत हू, सज्जन नेह गँभीर,
फीको परै न बरु फटे, रँग्यो लोह रंग चीर।।"

यहाँ पूर्वार्द्ध में उपमेय वाक्य और उत्तरार्द्ध में उपमान वाक्य है। इन दोनों में 'चटक न छाँड़त' और 'फीको न परै' एक ही धर्म शब्द-भेद से कहा गया है।

प्रतिवस्तूपमा वैधर्म्य में भी होता है, जैसे —

"विज्ञ जनन को अमित श्रम, जानत हैं नर विज्ञ,
प्रसव वेदना दुसह सों बाँझ न होइ अभिज्ञ।।"

यहाँ प्रथम वाक्य में 'जानत हैं' यह विधि रूप धर्म है, और दूसरे वाक्य में 'न होइ अभिज्ञ' यह निषेध रूप धर्म है अतः वैधर्म्य से एक ही धर्म कहा गया है।

माला प्रतिवस्तूपमा—

"बहत जु सर्पन को मलय धरत जु काजर दीप,
चंदहु भजत कलंक को राखहिं खलन महीप।।"

यहाँ 'बहत' 'धरत' एवं 'भजत' और 'राखहिं' में एक ही धर्म शब्द-भेद से कई बार कहा है अतः माला है।

(२२) दृष्टान्त अलंकार

उपमेय, उपमान और साधारण धर्म का जहाँ बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है।

दृष्टान्त का अर्थ है—'दृष्टोऽन्तः निश्चयोत्रसदृष्टान्तः' काव्यप्रकाश। दृष्टान्त अलंकार में दृष्टान्त (निश्चित) वाक्यार्थ दिखाकर दार्ष्टान्त (अनिश्चित) वाक्यार्थ का निश्चय कराया जाता है। अर्थात् दृष्टान्त दिखाकर किसी कही हुई बात का निश्चय कराया जाना।

दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा का पृथक्करण—

'प्रतिवस्तूपमा' में केवल साधारण धर्म का वस्तु-प्रति-वस्तु भाव अर्थात् शब्द-भेद द्वारा एक धर्म दोनों वाक्यों में कहा जाता है। दृष्टान्त में उपमेय, उपमान और साधारण धर्म तीनों का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव रहता है। अर्थात् उपमेय और उपमान के दोनों वाक्यों में ऐसे भिन्न-भिन्न समान धर्म कहे जाते हैं, जिनका परस्पर में सादृश्य हो। और उपमा में 'इव' आदि शब्दों का कथन किया जाता है—दृष्टान्त में नहीं।

पण्डितराज का मत है कि (प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त में) अधिक भिन्नता न होने के कारण इनको एक ही अलंकार के दो भेद कहने चाहिए, न कि भिन्न-भिन्न अलंकार।

उदाहरण—

"दुसह दुराज प्रजान के क्यों न बढ़ै दुख द्वन्द,
अधिक अँधेरे जग करत मिलि पावस रवि चन्द।"

यहाँ पूर्वार्द्ध में उपमेय वाक्य और उत्तरार्द्ध में उपमान वाक्य है। इन दोनों में 'दुख द्वन्द बढ़ै' और 'अधिक अँधेरो करत' ये ऐसे भिन्न-भिन्न

दो धर्म कहे गये हैं जिनका परम्परा सादृश्य है। बस यही तो विम्ब भाव है।

'पयोधि मंथन सुरासुर ने किया था,
पीयूष - दान - यश श्रीहरि को बदा था।
हुए अनेक कवि, की रस की मथाई,
रामायणी-रस-सुधा तुलसी पिवाई॥'

यहाँ पूर्वार्द्ध के उपमेय-वाक्य का, समान धर्म (अमृतदान) सहित उत्तरार्द्ध में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है।

माला दृष्टान्त—

"पंछिन को बिरछौ हैं घने बिरछान को पंछिहु हैं घने चाहक,
मोरन को हैं पहार घने और पहारन मोर रहैं मिलि नाहक,
'बोधा' महीपन कों मुकता और घने मुकातनि के होहि बेसाहक,
जो धन है तो गनी बहुतैं अरु जो गुन है तो अनेक हैं गाहक।"

यहाँ चतुर्थ चरण उपमेय वाक्य है, पहिले तीनों चरण उपमान वाक्य हैं, उपमेय और उपमान वाक्यों का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है।

वैधर्म्म में दृष्टान्त—

"भव के त्रय ताप रहैं तब लौं नरके दृढ़-मूल बने हिय माँही,
तब लौं करुनाकर की करुना परिपूरित दीठि परै वह नाँही,
दिसि पूरब में उदयाचल पै प्रकटै जब है रवि की अरुनाई,
तब पंकज-कोस-छिप्यौ तमतोम कहो वह देत कहाँ दिखराई।"

यहाँ पूर्वार्द्ध के उपमेय वाक्य में ताप की स्थिति और उत्तरार्द्ध के उपमान वाक्य में तम का अभाव कहा गया है। अतः वैधर्म्य से बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है।

(२३) निदर्शना अलंकार

निदर्शना का अर्थ है दृष्टान्तरूप में करके दिखाना। निदर्शना अलंकार में दृष्टान्त रूप में अपने कार्य को उपमा दिखाई जाती है।

प्रथम निदर्शना

वाक्य के अथवा पद के अर्थ का असम्भव सम्बन्ध जहाँ उपमा का परिकल्पक होता है वहाँ प्रथम निदर्शना अलंकार होता है।

प्रथम निदर्शना में परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव वाले दो वाक्यों या पदों के अर्थ का परस्पर सम्भव सम्बन्ध होता है अतः वह उपमा की कल्पना का कारण होता। अर्थात् उपमा की कल्पना की जाने पर उस असम्भव सम्बन्ध की असम्भवता हट जाती है।

दृष्टान्त अलंकार में भी उपमेय और उपमान वाक्यों का परस्पर में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है। पर दृष्टान्त में वे दोनों वाक्य निरपेक्ष होते हैं केवल उपमान के वाक्यार्थ में दृष्टान्त दिखाकर उपमेय के वाक्यार्थ की पुष्टि का निश्चय कराया जाता है और निदर्शना में उपमेय और उपमान वाक्य परस्पर में सापेक्ष होते हैं अर्थात् उपमेय के वाक्यार्थ में उपमान के वाक्यार्थ आरोप किये जाने के कारण दोनों का परस्पर सम्बन्ध रहता है।

प्रथम निदर्शना दो प्रकार की होती है—वाक्यार्थ निदर्शना और पदार्थ निदर्शना।

वाक्यार्थ निदर्शना का उदाहरण—

"कहाँ अल्प मेरी मती कहाँ काव्य मत गूढ़।
सागर तरिबो उडुप सों चाहतु हौं मति मूढ़॥"

यहाँ पूर्वार्द्ध के—'काव्य-विषयक ग्रन्थ की रचना करनेवाला अल्प-मति मैं' इस वाक्य का 'बाँसों की नाव से समुद्र को तरना चाहता हूँ' इस वाक्य से जो सम्बन्ध है—वह असम्भव है। क्योंकि ग्रन्थ-रचना करना अन्य कार्य है, और समुद्र-तरण अन्य कार्य है अर्थात् ग्रन्थ-रचना करने का कार्य समुद्र-तरण नहीं हो सकता। अतः यह असम्भव सम्बन्ध 'मुझ अल्पमति द्वारा ग्रन्थ-रचना का कार्य बाँसों की नाव से समुद्र-तरण के समान है (दुःसाध्य है) इस प्रकार उपमा की कल्पना कराता है।

अप्पय दीक्षित और पण्डितराज ऐसे उदाहरणों में 'ललित' अलंकार मानते हैं। आचार्य मम्मट ने 'ललित' को नहीं लिखा है। अतएव सम्भवतः उन्होंने ललित को निदर्शना के ही अन्तर्गत माना है।

"कालिन्दी-तट पै निवास करते हो नित्य राधापते,
देते दर्शन भी वहाँ पर तुम्हें अन्यत्र जो खोजते।
निश्चै वे निज-कण्ठ भूषित सदा चिन्तामणि हो रही।
देखो भूल उसे विमूढ़ भुवि में हा! ढूंढते हैं कहीं॥"

यहाँ 'भगवान् श्रीकृष्ण को जो लोग अन्यत्र खोजते हैं' इस वाक्य का 'वे अपने कण्ठ में स्थित चिन्तामणि को भूल कर पृथ्वी पर ढूंढते हैं' इस वाक्य से जो सम्बन्ध है वह असम्भव है। अतः यमुना तट पर स्थित प्रभू को अन्यत्र ढूंढना वैसा ही है जैसा अपने कण्ठ में स्थित चिन्तामणि को पृथ्वी पर ढूंढना। इस प्रकार उपमा की कल्पना की जाने पर अर्थ की संगति बैठ जाती है।

माला निदर्शना—

"व्यालाधिप गहिबों चहैं कालानल कर लीन्ह,
हालाहल पीबो चहैं जे चहँ खल-वस कीन्ह॥"

यहाँ दुर्जनों को वश में करने की जो इच्छा है, वह सर्पराज को पकड़ने की, प्रचण्ड अग्नि को हाथ पर रखने की और जहर पीने की इच्छा के समान है, इस प्रकार तीन उपमाओं की कल्पना की जाती है अतः माला निदर्शना है।

पदार्थ निदर्शना—

"ससि की इहि ओर ह्वै अस्त तथा उहिं ओर ह्वै भानु उदै जवहीं,
तव ऊपर को उनकी किरनें बिखरी विलसैं रसरी समही,
दुहुँ ओरन घण्ट रहै लटकी सुखमा गजराज की मंजु वही—
गिरि रैवत धारतु हैं सुप्रतच्छ प्रभात में पूनम के दिन ही॥"

पूर्णिमा के प्रातःकाल सूर्य के उदय और चन्द्रमा के अस्त होने के समय रैवतक गिरि की दोनों तरफ दो घण्टा लटकते हुए हाथी की शोभा को धारण करनेवाला कहा गया है अर्थात् एक वस्तु दूसरी वस्तु की शोभा को धारण करने वाली कही गयी है। किन्तु यह असम्बद्ध सम्बन्ध है क्योंकि एक वस्तु की शोभा को दूसरी वस्तु धारण नहीं कर सकती। अतः इसके द्वारा—'दो घण्टा लटकते हुए हाथी की शोभा के समान रैवतक गिरि की शोभा होती है' इस उपमा की कल्पना की जाती है। यहाँ 'सुखमा' (शोभा) इस एक पद के अर्थ के असम्भव सम्बन्ध द्वारा उपमा की कल्पना होती है, अतः पदार्थ निदर्शना है।

द्वितीय निदर्शना

अपने स्वरूप और अपने स्वरूप के कारण का सम्बन्ध अपनी क्रिया द्वारा बोध कराये जाने को द्वितीय निदर्शना अलंकार कहते हैं।

क्रिया द्वारा बोध कराया जाना अर्थात् अपनी क्रिया द्वारा दृष्टान्त रूप में उसका कारण दिखाया जाना। प्रथम निदर्शना में जिस प्रकार असम्भव सम्बन्ध उपमा की कल्पना कराता है उसी प्रकार द्वितीय निदर्शना में सम्भावित सम्बन्ध उपमा की कल्पना कराता है।

उदाहरण—

"गिरि-शृंग गत पाषाण-कण पा पवन का कुछ वात वह,
गिरता हुआ है कह रहा अपनी दशा की बात यह—
उच्च पद पर जो कभी जाता पहुँच है क्षुद्र जन,
स्थिर न रह सकता वहाँ से सहज ही होता पतन॥"

पर्वत के शृंग पर पहुँचा हुआ कंकड़ 'मन्द वायु के धक्के से गिर जाने रूप' अपने स्वरूप का और अपने गिरने के—'छोटा होकर उच्च स्थान पर पहुँच जाना'—इस कारण का सम्बन्ध 'गिरता हुआ' इस अपनी क्रिया द्वारा दृष्टान्त रूप में दूसरों को बोध कराता है।

यहाँ पर्वत-शृंग पर स्थित छोटे कंकड़ का पवन से गिर जाने का सम्बन्ध है, वह असम्भव नहीं—सम्भावित है। यह सम्भावित सम्बन्ध इस उपमा की कल्पना कराता है कि जिस प्रकार छोटा कंकड़ पर्वत की चोटी पर पहुँच कर पवन के हलके धक्के से सहज ही नीचे गिर जाता है उसी प्रकार क्षुद्र (नीच) जन का भी उच्च पद तर पहुँच कर सहज ही अधःपतन हो जाता है।

"दूसरों को व्यर्थ करते ताप, वे—
सम्पदा चिरकाल तक पाते नहीं,
हो रहा है अस्त ग्रीष्म-दिनान्त में
दिवसमणि[1] करता हुआ सूचित यहीं॥"

यहाँ सूर्य, अन्त होने रूप अपने स्वरूप का और लोगों को वृथा सन्ताप-कारक होने से अधिक काल तक सम्पत्ति का भोग प्राप्त न होने रूप कारण का सम्बन्ध 'हो रहा है अस्त' इस अपनी क्रिया द्वारा बोध कराता है।

(२४) व्यतिरेक अलंकार

उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष वर्णन को व्यतिरेक अलंकार कहते हैं:—

व्यतिरेक पद 'वि' और 'अतिरेक' से बना है। 'वि' का अर्थ है विशेष और 'अतिरेक' का अर्थ है अधिक। व्यतिरेक अलंकार में उपमान की उपेक्षा उपमेय में गुण-विशेष का आधिक्य (उत्कर्ष) वर्णन किया जाता है।[2]

पूर्वोक्त प्रतीत अलंकार में उपमेय को उपमान कल्पना करके उपमेय उत्कर्ष कहा जाता है और यहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय में गुण की अधिकता वर्णन की जाती है।

व्यतिरेक के २४ भेद होते हैं—

---

१ सूर्य। २ व्यतिरेकः विशेषेणातिरेकः आधिक्यम् गुणविशेष कृत उत्कर्ष इति यावत्। काव्यप्रकाश बालबोधिनी व्याख्या पृ० ७८६।

व्यतिरेक अलंकार

- उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के निष्कर्ष के कारण का कहा जाना
- उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के निष्कर्ष के कारण का न कहा जाना
- केवल उपमान अपकर्ष के कारण कहा जाना
- केवल उपमेय के उत्कर्ष के कारण का कहा जाना

इन चारों भेदों के तीन-तीन उपभेद

- शाब्दी उपमा द्वारा
- आर्थी उपमा द्वारा
- आक्षिप्तोपमा द्वारा

इन बारह भेदों के दो-दो भेद

- श्लेष द्वारा
- श्लेष रहित

इनके कुछ उदाहरण—

शाब्दी-उपमा द्वारा व्यतिरेक—

"राधा मुख को चन्द्र-सा कहते हैं मतिरंक,
निष्कलंक है यह सदा उसमें प्रकट कलंक॥"

यहाँ 'सा' शब्द होने के कारण शाब्दी-उपमा है। मुख-उपमेय के उत्कर्ष का हेतु 'निष्कलंकता' और चन्द्र उपमान के अपकर्ष का हेतु 'सकलंकता' कथन है, अतः प्रथम भेद है।

"तव कर्ण द्रोणाचार्य से साश्चर्य यों कहने लगा—
आचार्य ! देखो तो नया यह सिंह सोते से जगा,
रघुवर विशिख[1] से सिन्धु सम सब सैन इससे व्यस्त है,
यह पार्थनन्दन पार्थ से भी धीर-वीर प्रशस्त है।"

---

१ वाण।

यहाँ उपमेय पार्थ-नन्दन का (अभिमन्यु का) उपमान-पार्थ से (अर्जुन से) आधिक्य कहा गया है। उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष का हेतु नहीं कहा गया है। अतः दूसरा भेद है।

"छोड़ सकते हैं नहीं वह काम शर[1]
प्रिय हृदय को कर न सकते मुदित वह,
है न तेरे नयन से मृग - दृग प्रिये!
दे रहे कवि लोग उपमा भूल यह॥"

यहाँ उपमेय-नायिका के नेत्र के उत्कर्ष का हेतु न कहा जाकर केवल उपमान-मृग के नेत्रों के अपकर्ष के हेतु पूर्वार्द्ध में कहे गये हैं अतः तीसरा भेद है।

"मृग से मरोरदार खंजन से दौरदार
चंचल चकोरन के चित्त चोर बाँके हैं।
मीनन मलीनकार जलजन दीनकार
भँवरन खीनकार असिन प्रभा के हैं॥
सुकवि 'गुलाब' सेत चिक्कन बिसाल लाल
स्याम के सनेह सने अति मद छाके हैं।
वरुनी बिसेस धारैं तिरछी चितौन वारे
मैन-वान हू तें पैन नैन राधिका के हैं॥"

यहाँ उपमान-कामवाण का अपकर्ष न कह कर केवल नेत्र-उपमेय के उत्कर्ष का कथन किया गया है, अतः चतुर्थ भेद है।

आर्थी उपमा द्वारा व्यतिरेक—

"सिय-मुख सरद-कमल सम किमि कहि जाय,
निसि मलीन वह, यह निसि दिन विकसाय॥"

यहाँ आर्थी-उपमा-वाचक 'सम' शब्द है। उत्तरार्द्ध में उपमान के अपकर्ष और उपमेय के उत्कर्ष का कथन है अतः प्रथम भेद है। इस पद्य

---

१ कामदेव के वाण।

के कुछ पद परिवर्तन करने पर आर्थी उपमात्मक व्यतिरेक के शेष तीनों भेदों के उदाहरण भी हो सकते हैं।

आक्षिप्तोपमा द्वारा व्यतिरेक—

'दहन करती चिता तन जीवन-रहित,
दुख का अनुभव अतः होता नहीं,
रात-दिन करती दहन जीवन-सहित,
है न चिन्ता-ज्वाल की सीमा कहीं॥'

यहाँ 'इव' आदि शाब्दी-उपमा-वाचक शब्द और तुल्यादि आर्थी उपमा-वाचक शब्दों का कथन नहीं है। किन्तु उपमा का आक्षेप द्वारा बोध होता है। अतः आक्षिप्ता-उपमा द्वारा व्यतिरेक है। पूर्वार्द्ध में मृत्यु रूप उपमान का अपकर्ष और उत्तरार्द्ध में चिन्ता रूप उपमेय का उत्कर्ष कहा गया है। अतः प्रथम भेद है।

"सवरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्ह रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल वेद विहित गुननाथ॥"

यहाँ पूर्वार्द्ध में श्रीरघुनाथजी का अपकर्ष और उत्तरार्द्ध में श्रीराम नाम का उत्कर्ष कहा गया है अतः द्वितीय भेद है। उपमा-वाचक शब्द का प्रयोग न होने के कारण आक्षिप्तोपमा द्वारा व्यतिरेक है।

श्लेषात्मक व्यतिरेक—

'सज्जन गन सेवहि तुम्हें करतु सदा सनमान,
नहिं भंगुर-गुन कंज लौं तुम गाढ़े गुनवान।'

यहाँ 'लौं' शब्द शाब्दी उपमा-वाचक है। 'भंगुर' उपमान के अपकर्ष का और 'गाढ़े' उपमेय के उत्कर्ष का कारण कहा गया है। 'गुण' शब्द श्लिष्ट है इसका मनुष्य की प्रशंसा के पक्ष में 'चतुरता' आदि गुण और कमल पक्ष में कमल के तन्तु अर्थ है। अतः श्लेषात्मक शाब्दी उपमा द्वारा व्यतिरेक का प्रथम भेद है। इस दोहे के कुछ शब्द परिवर्तन कर देने पर शाब्दी उपमा

द्वारा श्लेषात्मक व्यतिरेक के शेष तीनों भेदों के भी उदाहरण हो सकते हैं। और इस प्रकार 'कंज लौं' के स्थान पर 'कंज सम' कर देने पर श्लेषात्मक आर्थी उपमा द्वारा व्यतिरेक के भी उदाहरण हो सकते हैं।

आचार्य रुद्रट और रुय्यक ने उपमेय की अपेक्षा उपमान के उत्कर्ष में भी व्यतिरेक अलंकार माना और—

"क्षीण हो हो कर पुनः यह चन्द्रमा,
पूर्ण होता है कला बढ़ बढ़ सभी,
कर रही तू मान क्यों प्रिय से अली!
नहीं गत-यौवन पुनः आता कभी॥"

यह उदाहरण दिया है। उनके मत में यहाँ यौवन उपमेय है और चन्द्रमा उपमान है अतः चन्द्रमा का क्षीण हो-होकर पुनः वृद्धि होने के कथन में उपमान-चन्द्रमा के उत्कर्ष में व्यतिरेक है। किन्तु आचार्य मम्मट और पण्डितराज उपमान के उत्कर्ष में व्यतिरेक नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि उक्त उदाहरण में भी चन्द्रमा उपमान की अपेक्षा उपमेय-यौवन का ही उत्कर्ष कहा गया है। क्योंकि यहाँ मानिनी नायिका के प्रति मान छुटाने के लिए नायक की दूती के इस वाक्य में 'चन्द्रमा क्षीण हो-होकर भी पुनः बढ़ता रहता है' यह कह कर चन्द्रमा को उसने सुलभ बताया है और 'यौवन क्षीण हो कर पुनः प्राप्त नहीं हो सकता' यह कह कर यौवन को दुर्लभ बताया है। वक्ता—दूती का मान - मोचन के लिए यौवन की दुर्लभता वताना भी अभीष्ट है। अतः यहाँ यौवन को दुर्लभ बताकर यौवन का उत्कर्ष कहा गया है। यदि उपमेय का अपकर्ष शब्द द्वारा भी कहीं कहा जाय तो वहाँ भी वह अपकर्ष वास्तव में उत्कर्ष ही होता है। जैसे—

'निरपराधी - जनों को करना दुखित,
विषम विष से भी अधिक है हीन यह,
जहर करता मात्र भक्षक को विनष्ट,
सभी कुल को किन्तु करता नष्ट यह।'

यहाँ निरपराधी जनों को दुःख देना उपमेय और विष उपमान है। यद्यपि विष की अपेक्षा निरपराधी जनों को दुःख देने के कार्य को शब्द द्वारा हीन कहा गया है; परन्तु विष केवल खाने वाले को ही नष्ट करता है, पर यह सारे कुल को। इस कथन में निरपराधी जनों को दुःख देने की क्रूरता का वास्तव में उत्कर्ष ही कहा गया है।

(२५) सहोक्ति अलंकार

सह-अर्थ बोधक शब्दों के बल से एकही शब्द जहाँ दो अर्थों का वाचक होता है वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है।

सहोक्ति अलंकार में सह भाव की उक्ति होती है अर्थात् सह, संग और साथ आदि शब्दों की सामर्थ्य से एक अर्थ के अन्वय का बोधक शब्द, दो अर्थों के अन्वय का बोधक होता है। एक अर्थ का प्रधानता से और दूसरे अर्थ का अप्रधानता से एक ही क्रिया में अन्वय होता है। जहाँ दोनों अर्थ प्रधान होते हैं वहाँ दीपक या तुल्ययोगिता अलंकार होता है अर्थात् तुल्ययोगिता और दीपक में उपमेयों का या उपमानों का अथवा उपपेय उपमान दोनों का प्रधानता से एक क्रिया में अन्वय होता है—प्रधान और अप्रधान भाव नहीं होता।

उदाहरण—

"मनमोहन सों मन मिल्यो इन नैनन के संग।"

यहाँ मन का मिलना शब्द द्वारा कहा गया है। और नेत्रों का मिलना 'संग' शब्द के सामर्थ्य से बोध होता है। और मन का प्रधानता से और नेत्रों का अप्रधानता से 'मिल्यो' इस क्रिया पद से सम्बन्ध है।

"फूलन के संग फूलिहैं रोम परागन के संग लाज उड़ाई हैं,
पल्लव पुञ्ज के संग अली! हियरो अनुराग के रंगरंगाई हैं,
आयो वसन्त न कन्त हितू अब वीर! बदौंगी जो धीर धराई हैं,
साथ तरुन के पातन के तरुनीन के कोप निपात ह्वै जाइहैं।"

यहाँ 'फूल' आदि का 'फूलिहैं' आदि के साथ शब्द द्वारा सम्बन्ध

कहा गया है और 'रोम' आदि का 'फूलिहैं' आदि के साथ सम्बन्ध 'सङ्ग' शब्द के बल से बोध होता है।

अलंकार सर्वस्व में कार्य-कारण के पौर्वापर्य विपर्यय में अतिशयोक्तिमूला सहोक्ति का—

"मुनि कौशिक की पुलकावलि संग उठा शिव-चाप लिया कर है,
नृपती-गण के मुख-मण्डल संग विनम्र तथैव किया, फिर है,
मिथिलेश-सुता-मन संग तथा उनको झट खैंच लिया धर है,
भृगुनाथ के गर्व के साथ उसे रघुनाथ ने भग्न दिया कर है।"

यह उदाहरण दिया है। यहाँ धनुष का भंग होना कारण है और परशुराम जी के गर्व का भंग होना कार्य है। इन दोनों का 'साथ' शब्द द्वारा एक काल में होना कहा गया है। अत: कार्य-कारण के एक साथ होने वाली अतिशयोक्ति का यहाँ मिश्रण है। विश्वनाथ ने भी सहोक्ति के इस भेद को माना है। पण्डितराज इसमें अतिशयोक्ति ही मानते हैं, न कि सहोक्ति। उनका कहना है कि सहोक्ति के इस उदाहरण में और अतिशयोक्ति के—

'तुव सिर अरु अरि-माथ नृप ! भूमि परत इक साथ'

ऐसे उदाहरणों में जहाँ कार्य और कारण के एक साथ होने का वर्णन होता है कोई भेद नहीं है।

जहाँ चमत्कार-रहित केवल सहोक्ति होती है–'सह' आदि शब्दों का प्रयोग होता है–वहाँ अलंकार नहीं होता।

(२६) विनोक्ति अलंकार

एक के बिना दूसरे के शोभित अथवा अशोभित होने के वर्णन को विनोक्ति अलंकार कहते हैं।

विनोक्ति का अर्थ है किसी के बिना उक्ति होना। विनोक्ति अलंकार में एक वस्तु को किसी दूसरी वस्तु के बिना| शोभित अथवा अशोभित कही जाती है। यह अलंकार पूर्वोक्त सहोक्ति का प्रतिद्वन्द्वी (विरोधी) है।

'वदन सुकविता के विना सदन सु वनिता - हीन,
सोभित होत न जगत में नर हरि-भक्ति-विहीन।'

यहाँ सुन्दर कविता आदि के बिना वदन आदि की शोभाहीनता कही गयी है।

'तीरथ को अवलोकन हैं मिलि लोकन सों धन हू लहिबो है,
बात अनेक नई लखि कै मति औ बच चातुरता गहिबो है,
हैं इतने सुख मित्र ! विदेसु पै एकहि दुःख बड़ो सहिबो है,
जो मृगलोचनि कामिनि की विरहागनि को सहिकै रहिबो है।'

यहाँ कामिनि के विना विदेश पर्यटन में सुख के अभाव रूप अशोभा का कथन है।

'त्रास[1] विना सोहत सुभट ज्यों छवि जुत मनि-माल,
दान[2] विना सोहत नहीं नृप जिमि गज बल साल।'

यह 'त्रास' और 'दान' शब्दों में श्लेष होने से श्लेप-मूलक विनोक्ति है।

विनोक्ति की ध्वनि---

'झूमत द्वार अनेक मतंग जँजीर जड़े मद-अम्बु चुचाते,
तीखे तुरंङ्ग मनोगति चँचल पौन के गौनहु तें वढ़ि जाते,
भीतर चन्द्रमुखी अवलोकत वाहिर भूप खड़े न समाते,
ऐसे भये तो कहा 'तुलसी' जो पै जानकी नाथ के रंग न राते।'

यहाँ भी राम-भक्त के बिना मनुष्य के वैभव-युक्त जीवन की शोभा का अभाव ध्वनित होता है।

"कोऊ नर सर्वभाँति ऊँचो हू चढ़्यो तो कहा?
जाको जस एक बार तान[3] पै चढ़्यो जहीं,

---

१ सुभट (वीर) पक्ष में भय और मणि पक्ष में दोष।

२ राजा के पक्ष में दीन और हाथी के पक्ष में मद का पनी।

३ जिसका यश सितार आदि पर न गाया जाय।

कुंवर! अपार धन धाम में बढ़्यो तो कहा?
जाको मन जाति अभिमान में गढ़्यो नहीं,
पढ़ि के पुरान वेद पण्डित भयो तो कहा?
जो पै कुल धर्म-पाठ-रंचहू पढ़्यो नहीं,
हायन[1] हजार स्वास सूख तें कढ़्यो तो कहा?
देस-हित एकहू उसास जो कढ़्यो नहीं।"

यह महाराणा प्रताप की जयपुराधीश मानसिंह के प्रति उक्ति है। इसमें देश-हित आदि के बिना मनुष्य जीवन की शोभा का अभाव ध्वनित होता है।

(२७) समासोक्ति अलङ्कार

प्रस्तुत के वर्णन द्वारा समान विशेषणों से जहाँ अप्रस्तुत का बोध होता है, वहाँ समासोक्ति अलंकार होता है।

समासोक्ति का अर्थ है समास से अर्थात् संक्षिप्त से उक्ति समासोक्ति में संक्षिप्त से उक्ति यह होती है कि एक अर्थ के (प्रस्तुत के) वर्णन द्वारा दो अर्थों का (प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का) बोध कराया जाता है अर्थात् प्रस्तुत के वर्णन में समान (प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के साथ समान सम्बन्ध रखनेवाले) विशेषणों के सामर्थ्य से अप्रस्तुत का बोध कराया जाता है।

समासोक्ति में विशेष्य-वाचक शब्द श्लिष्ट (दो अर्थ वाला) नहीं होता—केवल विशेषण ही समान होते हैं अर्थात् विशेषण ही ऐसे होते हैं जो प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का बोध करा सकते हैं। समान विशेषण कहीं श्लिष्ट (द्वयर्थक शब्दों वाले) और कहीं साधारण—अर्थात् श्लेष-रहित होते हैं। समासोक्ति का विषय भी श्लेष अलंकार के समान बहुत जटिल है।

---

१ वर्ष।

समासोक्तिकी अन्य अलंकार से पृथकता—

श्लेष और समासोक्ति में यह भेद है कि प्रकृत आश्रित या अप्रकृत आश्रित श्लेष में विशेष्य-वाचक पद श्लिष्ट नहीं होता है। समासोक्ति में केवल विशेषण श्लिष्ट होते हैं—विशेष्य अश्लिष्ट होता है। और प्रकृत अप्रकृत उभयाश्रित श्लेष में विशेष्य-पद श्लिष्ट तो नहीं होता है किन्तु प्रकृत और अप्रकृत दोनों विशेष्यों का भिन्न-भिन्न शब्द द्वारा कथन किया जाता है। समासोक्ति में दोनों विशेष्यों का भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कथन नहीं किया जाता—केवल प्रकृत-विशेष्य का ही शब्द द्वारा कथन होता है—समान विशेषणों के सामर्थ्य से ही अप्रकृत का बोध हो जाता है।

भारतीभूषण में श्लेष और समासोक्ति में जो यह भेद बताया गया है कि "श्लेष में जितने अर्थ होते हैं वे सभी प्रस्तुत (प्रकृत) होते हैं" यह ग्रंथकार की सर्वथा भूल है। क्योंकि प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के वर्णन में भी श्लेष होता है इसके अनेक उदाहरण श्लेष अलंकार के प्रकरण में दिखाये गये हैं।

एकदेशविवर्ति रूपक अलंकार और समासोक्ति में यह भेद है कि एकदेशविवर्ति रूपक में प्रस्तुत में अप्रस्तुत का आरोप किया जाता है अर्थात् उपमान अपने रूप से उपमेय के रूप को आच्छादित कर लेता है—ढक लेता है। समासोक्ति में स्वरूप का आच्छादन नहीं होता है। प्रस्तुत के व्यवहार द्वारा अप्रस्तुत के व्यवहार की प्रतीति मात्र होती है।

समासोक्ति केवल विशेषणों की समानता द्वारा ही नहीं किन्तु लिङ्ग (पुल्लिंग या स्त्रीलिंग) और कार्य की समानता में भी होता है। विशेषण कहीं श्लिष्ट न होकर साधारण होते हैं।

श्लिष्ट विशेषण[1] समासोक्ति—

> 'विकसित-मुख प्राची निरख रवि-कर सों अनुरक्त।
> प्राचेतस-दिसि जात ससि ह्वै दुति-मलिन विरक्त[2] ॥'

---

१ जिसमें विशेषण पद श्लिष्ट हो। २ सूर्य के कर = किरण (श्लेषार्थ हाथ) के स्पर्श से अनुरक्त = प्रातः कालीन सूर्य लालिमा से अरुण (श्लेषार्थ,

यह प्रातः कालीन अस्तोन्मुख चन्द्रमा और उदयोन्मुख सूर्य का वर्णन है अतः प्रभात का वर्णन प्रस्तुत (प्रसंग-गत) है। यहाँ विशेष्य शब्द 'प्राची' श्लिष्ट नहीं है। केवल विशेषण-शब्द—मुख, कर और अनुरक्त आदि ही श्लिष्ट हैं। इन श्लिष्ट विशेषणों द्वारा इस प्रभात के वर्णन में (प्रस्तुत में) उस विलासी पुरुष की (अप्रस्तुत की) अवस्था की प्रतीति होती है, जो अपनी पूर्वानुरक्ता किसी कुटिला स्त्री को अपने सन्मुख अन्यासक्त देख विरक्त होकर मरने को उद्यत हो जाता है। पूर्व दिशा में उस कुलटा स्त्री के व्यवहार की प्रतीति होती है जो अपने पहिले प्रेम-पात्र का वैभव नष्ट हो जाने पर उसे छोड़कर अन्य पुरुष में आसक्त हो जाती है।

'तरल तारका-रजनी-मुख को कर निज मृदुल करों से स्पर्श।
रजनीपति ने ग्रहण कर लिया क्रमशः हो अनुरक्त सहर्ष॥
रागावृत उत्सुक हो वह भी करने लगी मन्द मुसकान।
स्खलित हुआ तिमिरांशुक सारा उसका भी कुछ रहा न ध्यान॥'

यह उदयकालीन चन्द्रमा का वर्णन है। तरल-तारका वाले रजनी के मुख को[1] (श्लेषार्थ, चंचल नेत्रोंवाली नायिका के मुख को क्रमशः धीरे-धीरे अनुरक्त न होकर) चन्द्रमा ने अपने मृदुल करों से स्पर्श करके अर्थात् अपनी किरणों का कुछ-कुछ प्रकाश डालकर (श्लेषार्थ, अनुरागी नायक ने) अपने कोमल हाथों से ग्रहण कर लिया, तब रजनी भी रागावृत्त (अनुरक्त) हो गई और उसका तिमिरांकुश (अन्धकार रूपी वस्त्र) श्लेषार्थ घूंघट खिसक गया और वह मन्द मुसकान करने लगी। अर्थात् चन्द्रमा की चाँदनी

अनुराग युक्त) विकसित मुख = प्रकाशित अग्र भाग (श्लेषार्थ, मुसकराती हुई), प्राची = पूर्व दिशा को देख कर द्युतिमलिन = कान्तिहीन अर्थात् फीका पड़ा हुआ (श्लेषार्थ, वैराग्य प्राप्त) यह चन्द्रमा प्राचेतस = वरुण की पश्चिम दिशा (श्लेषार्थ मृत्यु) का आश्रय ले रहा है।

१ जिसमें कहीं-कहीं तारागण चमक रहे हैं ऐसे रात्रि के प्रारम्भ काल को।

से प्रकाशित होने लगी। यहाँ उदय-कालीन चन्द्रमा के प्रस्तुत वर्णन द्वारा 'तरल-तारका' आदि श्लिष्ट विशेषणों के श्लेपार्थ से नायक और नायिका के अप्रस्तुत व्यवहार का बोध कराया गया है, जैसा कि श्लेषार्थ द्वारा स्पष्ट किया गया है।

"उदयाचल रूढ़ दिवाकर की प्रतिभा कुछ गूढ़ लगीं विकसाने,
कर-कोमल का जब स्पर्श हुआ नलिनी-मुख खोल लगी मुसकाने,
अनुरक्त हुए रवि को वह देख स-हास बिलास लगी दिखलाने,
मकरन्द प्रलुब्ध स्वाभाविक ही मधुपावलि मञ्जु लगी मँडराने॥"

यहाँ प्रसंगत प्रातःकाल का वर्णन प्रस्तुत है। 'कर'[1] 'कोमल'[2] और 'अनुरक्त'[3] आदि श्लिष्ट विशेषणों द्वारा नायक और नायिका के व्यवहार की प्रतीति होती है।

श्लेष रहित साधारण विशेषण समासोक्ति—

"सहज सुगन्ध मदन्ध अलि करत चहूँ दिसि गान,
देखि उदित रविकमलिनी लगी मुदित मुसकान॥"

यहाँ श्लेप-रहित समान विशेषणों द्वारा प्रस्तुत कमलिनी के वर्णन में अप्रस्तुत नायिका के व्यवहार की प्रतीति होती है। नायिका के व्यवहार की प्रतीति होने का कारण यह है कि यहाँ केवल स्त्री में ही रहने वाले 'मुस्कान' रूप धर्म आरोप का प्रफुल्लित कमलिनी में किया गया है। यदि 'मुसकान' का प्रयोग नहीं हो तो नायिका के व्यवहार की प्रतीति नहीं हो सकती है।

लिंग की समानता द्वारा समासोक्ति—

'गम्भीरा के जल-हृदय से स्वच्छ में भी सु-वेश-
होगी तेरी सु-ललित अहो! स्निग्ध छाया प्रवेश,

---

१ किरण और श्लेषार्थ--हाथ। २ मन्द किरण और--श्लेषार्थ कोमल हाथ। ३ रक्तवर्ण अनुराग।

डालोगी वो चपल - सफरी - कञ्ज - कान्ती कटाक्ष,
होगा तेरे उचित न उन्हें जो करेगा निराश ॥

मेघदूत में प्रसंग-गत गम्भीरा नदी का यह वर्णन प्रस्तुत है। नदी स्त्रीलिंग और मेघ पुल्लिंग के जो विशेषण हैं वे नायिका और नायक के व्यवहार में भी अनुकूल हैं—समान हैं। इसलिए यहाँ लिंग की समानता द्वारा अप्रस्तुत नायिका का वृत्तान्त भी जाना जाता है। विशेषण श्लिष्ट नहीं है किन्तु गम्भीरा नदी और नायिका दोनों के लिए समान है।

(२८) परिकर अलङ्कार

साभिप्राय विशेषणों द्वारा विशेष्य के कथन किये जाने को परिकर अलंकार कहते हैं।

'परिकर' का अर्थ है उपकरण अर्थात् उत्कर्षक वस्तु। जैसे राजाओं के छत्र, चमर आदि होते हैं। 'परिकर' अलंकार में ऐसे अभिप्राय सहित विशेषणों का प्रयोग किया जाता है जो वाक्यार्थ के उत्कर्ष (पोषक) होते हैं।

'कलाधर दुजराज तुम हरत सदा सन्ताप,
मो अबला के गात क्यों जारतु हो अब आप।'

यहाँ विरहिणी नायिका का चन्द्रमा के प्रति जो उपालम्भ है वह दोहा के उत्तरार्द्ध के अर्थ से सिद्ध हो जाता है। तथापि पूर्वार्द्ध में चन्द्रमा के कलाधर आदि जो विशेषण हैं वे अभिप्राय-युक्त हैं[1] जिनके द्वारा उपालम्भ रूप वाक्यार्थ उत्कर्ष होता है।

"मीलित[2] मन्त्ररु ओषध व्यर्थ समर्थ नहीं सुर-वृन्द हु तारन,
'मोहि मुधा[3] हू सुधा गइ ह्वै मनि-गारुड़ि[4] हू को लगै उपचारन।

---

१ इन विशेषणों के प्रयोग करने का अभिप्राय यह है कि हे चन्द्र! तुम कलाधार हो—कला—विद्या या कान्तिवाले हो, द्विजों में श्रेष्ठ हो और तापहारक हो ऐसे होकर भी तुम अबला को ताप देते हो यह तुम्हारे अयोग्य है।

२ संकुचित। ३ झूठा—वृथा। ४ सर्प के चित्र को उतारनेवाली मणि।

कालिय-दौन के पाद-पखारनहार[1] तू देवनदी निज धारन।[2]
हौ भव-व्याल-डस्यौ जननी ! करुना करि तू करु ताप निवारन॥'

यहाँ गंगाजी को 'कालिय-दौन के पाद पखारनहार' यह जो विशेषण दिया गया है उसमें 'कालिय दमन' शब्द की सामर्थ्य से विष-हारक शक्ति वाले श्री भगवत् चरणों के प्रक्षालन से उनके चरण-रेणु द्वारा 'विष-हारक शक्ति श्रीगंगा को प्राप्त हुई है' यह अभिप्राय सूचित किया गया है। यहाँ इस एक ही विशेषण द्वारा वांछित चमत्कार हो जाने के कारण परिकर अलंकार सिद्ध हो जाता है।

(२६) परिकरांकुर अलङ्कार

साभिप्राय विशेष्य कथन किये जाने को परिकरांकुर अलंकार कहते हैं।

अर्थात् ऐसे विशेष्य-पद का प्रयोग किया जाना जिसमें कुछ अभिप्राय हो। पूर्वोक्त 'परिकर' में विशेषण साभिप्राय होते हैं और इसमें साभिप्राय विशेष्य।

'लेखन हैहयनाथ ही कहन समर्थ फनिन्द,
देखन को तेरे गुनन नृप समर्थ है इन्द्र॥'

यहाँ 'हैहयनाथ' 'फनिन्द' और 'इन्द्र' विशेष्य पद हैं, ये क्रमशः सहस्र हाथ, सहस्र जिह्वा और सहस्र नेत्र के अभिप्राय कहे गये हैं।

---

१ कालीय सर्प को दमन करने वाले श्रीकृष्ण (विष्णु) के पद प्रक्षालन करने वाली। २ जल के प्रवाह से।

स्वाभाविक एकार्थक शब्दों द्वारा अनेक अर्थों के कथन किये जाने को अर्थ-श्लेष कहते हैं।

"वामा भामा कामिनी, कहि बोलो प्रानेस!
प्यारी कहत लजात नहिं पावस चलत विदेश ॥"

विदेश जाने को उद्यत नायक के प्रति नायिका की उक्ति है। यहाँ 'वामा' 'भामा' 'प्यारी' इन विशेष्य-पदों में अभिप्राय यह है कि पावस ऋतु में विदेश गमन करते समय आपको मुझे प्यारी कहने में लज्जा नहीं आती, क्योंकि यदि मैं आपको प्यारी ही होती तो ऐसे समय आप विदेश जाने को क्यों उद्यत होते। अतः इस समय मुझे वामा (कुटिल) भामा(कोप करनेवाली) कहिये, न कि प्यारी।

"जादुन को मान मारि किरीटी सुभद्रा लैगो
तुमने निहोरचो तैसैं मैं तो ना निहोरिहों।
वैर बाँधि करै प्रीति राजनीति की न रीति
सत्रु सैन्य नाव सिन्धु आहव में बोरिहौं।
मेरी या गदा ते जमराज - लोक वृद्धि पैहैं,
भीमादिक सूरन के कंधन को तोरिहौं।
छोरिहौं न टेक एक, कहिये अनेक मेरी—
नाम रनछोर नाहिं कैसै रन छोरिहों।"

पाण्डवों से सन्धि करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण हस्तिनापुर गये तब उनके प्रति दुर्योधन के यह वाक्य हैं। यहाँ 'रनछोर' पद जो विशेष्य है, उसमें यह अभिप्राय है कि 'मेरा नाम रनछोर नहीं आपने ही जरासन्ध के सन्मुख रण को छोड़ दिया था अतः आप ही रणछोड़ हैं।'

चन्द्रालोक के मत से यह अलंकार कुवलयानन्द में लिखा गया है। अन्य आचार्य इसे पूर्वोक्त 'परिकर' के अन्तर्गत मानते हैं।

(३०) अर्थ-श्लेष अलङ्कार

स्वाभाविक एकार्थक शब्द द्वारा अनेक अर्थों के कथन किये जाने को अर्थ-श्लेष कहते हैं।

शब्दालंकार प्रकरण में जो शब्द-श्लेष लिखा गया है। उसमें श्लिष्ट (द्व्यर्थक) शब्दों का प्रयोग होता है। और इस अर्थ-श्लेष में एकार्थक शब्दों द्वारा एक साथ अनेक अर्थों का कथन किया जाता है। जहाँ एकार्थक शब्दों द्वारा एक अर्थ हो जाने पर उसके पश्चात् क्रमशः दूसरे अर्थ की व्यञ्जना होती है वहाँ अर्थ-शक्ति उद्भव ध्वनि होती है, न कि अर्थ-श्लेष।

"थोरेहि सौं ऊँचे[१] चढ़ै थोरेहि अध गति[२] जाहि,
तुला-कोटि खल दुहुँन की यही रीति जग माँहि॥"

यहाँ 'रंच' आदि एकार्थक शब्दों द्वारा तुला-कोटि (तराजू की डंडी) की और दुर्जन की समानता कही गयी है। 'रंच' शब्द के स्थान पर यदि इसी। अर्थ वाले 'अल्प' आदि शब्द बदल दिये जायँ तो भी श्लेष बना रहता है यही अर्थ-श्लेषता है। 'श्लेष' के विषय में अधिक स्पष्टीकरण शब्द-श्लेष के प्रकरण में पहिले किया गया है।

"कोमल विमल रु सरस अति विकसत प्रभा अमंद,
है सुवासमय मन हरन तिय-मुख अरु अरविंद॥"

यहाँ 'कोमल' और 'विमल' आदि एकार्थक शब्दों द्वारा मुख और कमल दोनों का वर्णन है। 'कोमल' आदि शब्दों के स्थान पर इनके समानार्थक-पर्याय शब्द रख देने पर भी मुख और कमल दोनों के अनुकूल अर्थ हो सकते हैं अतः अर्थ-श्लेष है।

(३१) अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार

प्रस्तुताश्रय अप्रस्तुत के वर्णन को अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार कहते हैं।

अप्रस्तुत प्रशंसा का अर्थ है अप्रस्तुत की प्रशंसा। प्रशंसा शब्द का अर्थ यहाँ केवल वर्णन मात्र है न कि स्तुति। केवल अप्रस्तुत का वर्णन

---

१ तराजू के पक्ष में डंडी ऊँची हो जाना, खल के पक्ष में अभिमान।
२ तराजू के पक्ष में डंडी नीची हो जाना, खल के पक्ष में दीन हो जाना।

चमत्कार न होने के कारण अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा प्रस्तुत अर्थ का बोध कराया जाता है।

जिसका प्रधानतया वर्णन करना वक्ता या कवि को अभीष्ट होता है या जिसका प्रकरणगत प्रसंग होता है उसको प्रस्तुत या प्राकरणिक कहते हैं। और जिसका अप्रधान रूप से वर्णन किया जाता है या जिसका प्रकरण-गत प्रसंग नहीं होता है, उसको अप्रस्तुत या अप्राकरणिक कहते हैं। अप्र-स्तुत प्रशंसा में प्रस्तुत के वर्णन के लिये अप्रस्तुत का कथन किया जाता है अर्थात् प्रसंगगत बात को न कहकर अप्रासंगिक बात के वर्णन द्वारा प्रसंगगत बात का बोध कराया जाता है। अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत का बोध किसी सम्बन्ध के बिना नहीं हो सकता है अतः अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत का बोध होने में तीन प्रकार के सम्बन्ध होते हैं (१) सामान्य विशेष सम्बन्ध, (२) कार्य कारण सम्बन्ध (३) और सारूप्य सम्बन्ध। अतः अप्रस्तुतप्रशंसा के भेद इस प्रकार होते हैं—
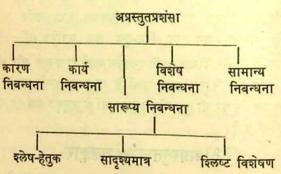
सामान्य विशेष सम्बन्ध यद्यपि अर्थान्तरन्यास अलंकार में भी होता है पर जहाँ सामान्य और विशेष दोनों का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया जाता है और अप्रस्तुतप्रशंसा में सामान्य अथवा विशेष दोनों में से एक ही का कथन किया जाता है।[1]

---

१ देखिए, अलंकारसर्वस्व अप्रस्तुतप्रशंसा प्रकरण का अन्तिम भाग।

कारण-निबन्धना

प्रस्तुत (प्राकरणिक) कार्य के बोध कराने के लिए अप्रस्तुत कारण का कहा जाना।

अर्थात् अप्रस्तुत कारण के वर्णन द्वारा प्रस्तुत कार्य का बोध कराया जाना।

'रस भीने मनोहर प्रेम भरे मृदु-बैनन मोहि घनो समझायो,
नहिं मान तिन्हैं करि रोष बिदेस को गौन हिये अति ही जू दृढ़ायो,
हठ मेरो बिलोकि प्रवीन प्रिया उर माँहि यही सुविचार उपायो,
बश आँगुरी-सैन रहै नित ही तिहिं खेल-बिलाव[1] सों गैल रुकायो॥'

विदेश जाने को उद्यत होकर फिर न जाने वाले व्यक्ति ने "क्या आप नहीं गये?" ऐसा पूछने वाले अपने मित्र के प्रति अपने न जाने का कारण कहा है। यहाँ कार्यप्रस्तुत है अर्थात् मित्र ने जो पूछा था उसका उत्तर तो यही था कि 'मैं न जा सका' पर ऐसा न कह कर न जाने का अप्रस्तुत कारण कहा गया है।

"सरद-सुधाकर बिंब सो लैके सार सुधारि,
श्री राधा-मुख को रच्यो चतुर बिरंच विचार!"

श्री राधिकाजी के मुख के सौंदर्य का वर्णन करना प्रस्तुत है, उसके लिये चन्द्रमा का सार भाग विधाता द्वारा निकाला जाना कहा गया है, जो राधिकाजी के मुख सौन्दर्य का कारण है।

कार्य-निबन्धना

प्रस्तुत-कारण के बोध कराने के लिए अप्रस्तुत-कार्य का कहा जाना।

"हाथों में है कमल, अलक कुन्द सी हैं सुहाती,
लोध्री रेणू[2] लग वदन की पांडु-कांति बिभाती।

---

१ पालतू बिलाव को इशारा कर के मार्ग रुका दिया।

२ एक प्रकार का पुष्प जिसका पराग पूर्वकाल में स्त्रियाँ मुख पर लगाती थीं।

है वेणी में कुरबक[1] नये कर्ण में है शिरीष,
कांताओं के विलसित जहाँ माँग में पुष्प-नीप[2]।"

मेघदूत में अलका में सभी ऋतुओं की सर्वदा स्थित कहना अभीष्ट था, पर वह न कह कर सब ऋतुओं के पुष्पों से एक ही काल में वहाँ की रमणियों का शृंगार करना कहा गया है, जो कि सब ऋतुओं की स्थिति कार्य है।

विशेष-निबन्धना

सामान्य[3] प्रस्तुत हो वहाँ अप्रस्तुत विशेष[4] का कथन किया जाना।

'हरिणी अंक में रखकर—
मृगलांछन चन्द्र कहलाया,
मृग-गण मार निरन्तर
नाम मृगाधिपति सिंह ने पाया[5]।'

शिशुपाल के प्रसंग में श्रीकृष्ण के प्रति बलभद्रजी को कहना अभीष्ट था, कि 'नम्रता रखने में दोष है और क्रूरता से गौरव बढ़ता है!' किन्तु यह प्रस्तुत रूप सामान्य न कहकर उन्होंने चन्द्रमा और सिंह का विशेष वृतान्त कहा है, जो कि अप्रस्तुत है।

---

१ वसन्त में होने वाला एक जाति का फूल।

२ कदम्ब के पुष्प।

३ जो बात साधारणतया सब लोगों से सम्बन्ध रखती है उसको 'सामान्य' कहते हैं।

४ जो बात खास तौर से एक मनुष्य या एक वस्तु से सम्बन्ध रखती है उसको विशेष कहते हैं।

५ मृग की गोदी में रखने से चंद्रमा का 'मृग लांछन' नाम हो गया और मृगों को रातदिन मारने वाले सिंह ने 'मृगराज' नाम पाकर अपना गौरव बढ़ाया। यह 'विशेष' बात है क्योंकि यह खास चंद्रमा और सिंह की बात है।

सामान्य-निवन्धना

प्रस्तुत विशेष हो वहाँ अप्रस्तुत-सामान्य का कथन किया जाना।

'अपमान को कर सहन रहते मौन जो—
उन नरों से धूलि भी अच्छी कहीं,
चरण का आघात सहती है न जो—
शीश पर चढ़ बैठती है तुरंत ही[1]॥"

यह भी शिशुपाल के प्रसंग में वलभद्र जी का श्रीकृष्ण के प्रति वाक्य है, उनको यह विशेष कहना अभीष्ट था कि 'हम से धूलि भी अच्छी' यह न कहकर सामान्य बात कही है।

'किहिं को न समौ इकसो रहिहै न रह्यो यह जानि निभाइबे में,
निज गौरवता समुझैं इक हैं अपने बिगरे की बनाइबे में।
नर अन्य कितेक वही जग जो विपदागत-बंधु सताइबे में,
निज-स्वारथ साधिबो चाहतु हैं धिक हाय दबे कों दबाइबे में॥'

'जो न समुझि करतव्य निज कीन्ह न कछू सहाय,
पै निज बिगरे बंधु की लैबौ भलो न हाय।"

विपद-ग्रस्त किसी व्यक्ति विशेष का वृत्तान्त न कहकर यहाँ सामान्य वृत्तान्त कहा है।

सारूप्य-निवन्धना

प्रस्तुत को न कह कर उसके समान दशावाले अप्रस्तुत का वर्णन किया जाना।

इसके तीन भेद हैं—श्लेष-हेतुक, श्लिष्ट-विशेषण और सादृश्यमात्र।

(१) श्लेषहेतुक—विशेषण और विशेष्य दोनों का श्लिष्ट होना।

(२) श्लिष्ट-विशेषण—केवल विशेषण श्लिष्ट होना।

---

१ वह कथन सर्व साधारण से सम्बन्ध रखता है अतः सामान्य है।

(३) सादृश्यमात्र—श्लिष्ट शब्द के प्रयोग बिना अप्रस्तुत का ऐसा वर्णन होना जो प्रस्तुत के वर्णन से समानता रखता हो।

श्लेष हेतुक—

"यूथप! तेरे मान,[1] समथान[2] न इतै लखाहि,
क्यों हू काट निदाघ-दिन दीरघ कित इत छाँहि॥"

यूथप (हाथी) के प्रति जो कवि का यह कथन है वह अप्रस्तुत है, क्योंकि पशु जाति हाथी को कहना अभीष्ट नहीं, किन्तु अप्रस्तुत हाथी के वृत्तान्त द्वारा हाथी की परिस्थिति के समान उच्च कुलोत्पन्न किसी सज्जन के प्रति कहना अभीष्ट है अतएव वही प्रस्तुत है। यहाँ हाथी के लिये कहा हुआ 'यूथप' पद विशेष्य और उसके 'मान' आदि विशेषण भी श्लिष्ट हैं—विशेष्य और विशेषण दोनों श्लिष्ट हैं—अतः श्लेष हेतुक है।

श्लिष्ट-विशेषण—

'धिक तेली जो चक्र-धर स्नेहित करत विहाल।
पारथिवन विचलित करत चक्री धन्य कुलाल[3]॥"

---

१ हाथी के अर्थ में मान अर्थात् परिणाम और सज्जन के अर्थ में प्रतिष्ठा।

२ हाथी के अर्थ में हाथी के लायक बड़ा स्थान और सज्जन के अर्थ में प्रतिष्ठा योग्य स्थान।

३ चक्र धारण करने वाले अर्थात् कोल्हू को घुमाने वाले तेली को धिक्कार है, जो कि स्नेहियों को (जिनमें स्नेह है ऐसे तिलों को या दूसरे पक्ष में अपने स्नेहीजनों को) पीड़ित करता है (दूसरे पक्ष में दुख देता है) किन्तु कुलाल (कुम्हार) को धन्य है जो चक्र धारण कर के (चाक फिरा कर) पार्थियों को (मिट्टी के पिंडों को) दूसरे पक्ष में पार्थिव अर्थात् राजाओं को विचलित (चलायमान) करता है।

यहाँ तेली और कुलाल (कुम्हार) के विषय में जो कथन है वह अप्रस्तुत वृत्तात द्वारा श्लिष्ट-विशेषणों से राज-वृत्तान्त का वर्णन है। कहना यह है कि वीर पुरुषों का प्रशंसनीय कार्य वही है, जिससे समान बल वाले प्रबल राजाओं के हृदय में खलबलाहट उत्पन्न हो जाय न कि अपने स्नेहीजनों को पीड़ित करना। यहाँ विशेष्य पद तेली और कुलाल दोनों अश्लिष्ट हैं केवल 'चक्रधर' 'स्नेही' आदि विशेषण ही श्लिष्ट हैं (जैसे कि समासोक्ति में होते हैं) किन्तु यहाँ 'समासोक्ति' अलंकार नहीं है क्योंकि उसमें प्रस्तुत के वर्णन में अप्रस्तुत की प्रतीति होती है और इसमें अप्रस्तुत के कथन द्वारा प्रस्तुत का वर्णन है।

"पय निर्मल मान सरोवर का कर पान सुगंधित नित्य महा,
जिसका सब काल व्यतीत हुआ सुखसे, बिकसे कलकंज वहाँ,
विधि के वश राज-मराल वही इस पंकिल ताल गिरा अब हा!
बिखरे जल जाल शिवाल तथैव रहे भर भेक[1] अनेक जहाँ॥"

अप्रस्तुत हंस के वृत्तान्त द्वारा यहाँ उसी के समान अवस्था वाले किसी सम्पत्ति-भ्रष्ट पुरुष की दशा का वर्णन किया गया है। हंस का मानसरोवर से अलग होकर दूसरे तालों पर दुःखित होना सम्भव है अतः यहाँ कुछ आरोप नहीं किया जाने से अनध्यारोप है।

'सुमनावलि-गंध प्रलुब्ध, लिये हरिणी मन मोद रहा भर है,
अनरक्त हुआ मधुपावलि-गान हरे तृण तुच्छ रहा चर है,
वृक[2] सम्मुख लुब्धक[3] पृष्ठ खड़ा जिसको शर-लक्ष्य[4] रहा कर है,
फिर भी यह दौड़ रहा मृग मूढ़ उसी पथ में न रहा डर है॥"

यहाँ अप्रस्तुत मृग के वृत्तान्त के वर्णन द्वारा उसी दशा वाले प्रस्तुत विषयासक्त मनुष्य की अवस्था का वर्णन है। यहाँ भी आरोप नहीं है— मृग और विषयासक्त मनुष्य दोनों की ठीक यही दशा है।

---

१ मेंढक। २ भेड़िया। ३ व्याध—बहेलिया। ४ निशाना बना रहा है।

'रितु निदाघ दुःसह समय मरु-मग पथिक अनेक
मेटे ताप कितेन को यह मारग-तरु एक।'

यहाँ अप्रस्तुत मरुस्थल के मार्ग में स्थित वृक्ष वृत्तान्त द्वारा उसी दशा वाले किसी मध्यश्रेणी के दाता की अवस्था का वर्णन है।

'इस पंकज के विकसे वन में न यहाँ भ्रम तू मधु-मत्त-अली !
सुख-लेश नहीं अति क्लेशमयी यह नाशक है सब रंगरली,
मति मूढ़ ! अरे इस कानन का वह भक्षक है गजराज बली,
उड़ जा अविलम्ब, विनाश न हो जबलौं रुक के इस कंज-कली।'

यहाँ अप्रस्तुत भृंग को सम्बोधन करके प्रस्तुत विषयासक्त मनुष्य के प्रति कहा गया है।

सारूप्य-निबन्धना के इस सादृश्य-मात्र-भेद को 'अन्योक्ति' अलंकार भी कहते हैं।

कुवलयानन्द में प्रस्तुत के द्वारा किसी दूसरे वांछित प्रस्तुत के वर्णन में 'प्रस्तुतांकुर' नामक अलंकार लिखा है। दीक्षित जी का मत है कि अप्रस्तुत-प्रशंसा में अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत वर्णन है और इसमें प्रस्तुत द्वारा ही प्रस्तुत का वर्णन होता है। जैसे—

'मनमोहक मंजुल मालति है फिर भी अलि ! क्यों भटका फिरता,
पहुँचा उड़ जा इस केतकि पै पर देख जहाँ रहना डरता,
बस मान कहा अनुरक्त न हो लख ऊपर की यह सुन्दरता,
छिद जायगा, कंटक से, मधु की अभिलाष वृथा करता-करता !'

अपने प्रियतम के साथ पुष्पवाटिका में टहलती हुई किसी नायिका की यह भ्रमर के प्रति उक्ति है। कुवलयानन्द में इसकी स्पष्टता करते हुए लिखा है—अप्रस्तुतप्रशंसा में भृंगादि के प्रति प्रत्यक्ष कथन नहीं होता है, अतः वे अप्रस्तुत होते हैं। यहाँ वाटिका में भृंग को मालती लता पर से केतकी पर गया हुआ देखकर भृंग के प्रति नायिका द्वारा प्रत्यक्ष उपालम्भ दिया गया है अतः प्राकरणिक होने से प्रस्तुत है। भृंग के प्रति उपालम्भ

रूप इस वाच्यार्थ में, वक्ता जो सौन्दर्याभिमानिनी कुल-वधू है उसके द्वारा, सर्वस्व को हरण करने वाली संकट का केतकी के समान वेश्या में आसक्त रहने वाले निज प्रियतम के प्रति जो उपालम्भ सूचन किया गया है, वह भी वांछित है अतः प्रस्तुत है। किन्तु पंडितराज का कहना है कि यह 'अप्रस्तुतप्रशंसा' के अन्तर्गत है।

(३२) पर्यायोक्ति अलङ्कार

अभीष्ट अर्थ का भंग्यन्तर से कथन किये जाने को पर्यायोक्ति अलंकार कहते हैं।

पर्यायोक्ति का अर्थ है पर्याय (दूसरे प्रकार) से कहना। अर्थात् अपने अभीष्ट अर्थ को सीधे तरह से न कह कर घुमाकर दूसरी तरह से कहना।

'गरब विनासक तियन को लखि तोको रन मांहि।
किहि अरि नृप की राज-श्रिय तजत पतिव्रत नांहि।'

किसी राजा की प्रशंसा में कहना तो कवि को यह अभीष्ट है कि 'सब शत्रुओं पर युद्ध में तुम विजय प्राप्त करते हो' इस बात को इसी प्रकार न कह कर 'संग्राम में तुम्हें देखकर किसी शत्रु की राज्य-लक्ष्मी पतिव्रत को नहीं छोड़ देती है' इस प्रकार भंग्यन्तर से कहा है।

यहाँ 'सब शत्रुओं पर तुम विजय प्राप्त करते हो' यह बात यद्यपि स्पष्ट नहीं कही जाने से वाच्यार्थ नहीं है—व्यंग्यार्थ है। पर व्यंग्यार्थ जैसे अवाच्य होता है अर्थात् ध्वनित होता है, वैसे यह अवाच्य नहीं है क्योंकि यह शब्द द्वारा भंग्यन्तर से कहा गया है अतएव ध्वनि नहीं है? ध्वनि में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ भिन्न-भिन्न होते हैं?

'चौरासी गिन लक्ष रूप नट ज्यों लाया बना के नये
बारंबार कृपाभिलाष कर मैं ये आप ही के लिये,
हुए जो कि प्रसन्न देख उनको, मांगू वही दो हरे!
आये जो न पसंद, नाथ! कहिये ये स्वांग लाना न!'

यहाँ भगवान् से मोक्ष की प्रार्थना अभीष्ट है, उसे भंग्यन्तर से कहा गया है।

"यहि घाट तें थोरिक दूरि अहै कटि लौं जल थाह दिखाइहौं जू,
परसै पग-धूरि तरै तरनी घरनि धर क्यों समुझाइहौं जू।
'तुलसी' अवलंब न और कछू लरिका केहि भांति जिआइहौं जू,
बरु मारिये मोहि बिना पग धोये हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू।"

यहाँ भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के चरण प्रक्षालन करने के इष्टार्थ को केवट ने स्पष्ट न कह कर दूसरे प्रकार से कहा है।

'पावन हुआ स्थल यह जहाँ पद आपके अर्पित हुए,
रूप - छबि की माधुरी से नेत्र आप्यायित हुए,
मधुर श्रवणामृत रसायन-वचन का कर दान क्या—
सम्मान्य ! इस जन के श्रवण अब सफल करियेगा न क्या।'

'आप अपने यहाँ आने का अपना अभीष्ट कहिये' इस बात को यहाँ इस पद्य के उत्तरार्द्ध में प्रकारान्तर से कहा गया है।

इस अलंकार के विषय में आचार्यों का बड़ा मतभेद है, इसका विवेचन काव्य कल्पद्रुम के द्वितीय भाग में किया गया है।

दूसरा पर्यायोक्ति अलंकार

अपने इष्ट-अर्थ को साक्षात् (स्पष्ट) न कह कर उस (इष्ट) की सिद्धि के लिये प्रकारान्तर (दूसरे प्रकार से कथन किये जाने को द्वितीय पर्यायोक्ति कहते हैं।

इसका लक्षण चन्द्रालोक और कुवलयानन्द में 'व्याज (बहाने) से इष्ट-साधन किया जाना' लिखा है। किन्तु इस लक्षण द्वारा 'पर्याप्त-उक्ति' अर्थात् प्रकारान्तर से कहा जाना, यह इस अलंकार में जो विशेष चमत्कार है वह स्पष्ट नहीं हो सकता है। अतः यहाँ आचार्य दण्डी के मतानुसार लक्षण लिखा गया है।

उदाहरण—

'वसन छिपाई चोर क्यों न देतु है गैंद यह।
अस कहि नंदकिशोर, परस्यो गोपी उर चतुर॥'

यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने उर-स्थल स्पर्श करने के इष्टार्थ (वांछितार्थ) को स्पष्ट न कह कर पूर्वार्द्ध में गोपांगना को प्रकारान्तर से कहा है।

(३३) व्याजस्तुति अलंकार

निन्दा के वाक्यों द्वारा स्तुति और स्तुति के वाक्यों द्वारा निन्दा करने को व्याजस्तुति अलंकार कहते हैं।

व्याजस्तुति का अर्थ है व्याज अर्थात् बहाने से स्तुति। व्याज स्तुति में स्तुति के बहाने से निन्दा और निन्दा के बहाने से स्तुति की जाती है।

निन्दा में स्तुति—

'सुर-लोक से आप गिरीं जननी ! अवनी तल दुःख निवारण को,
दिक-अंबर भी शिव ने तुमको ली जटा में छिपाकर धारण सो,
निरलोभियों के मन लुब्ध बना करती तुम क्या न प्रतारण[१] हो,
गुण-राशि में दोष तुम्हारे यही कहते सब हैं, न अकारण जो॥'

यहाँ श्री गंगाजी की निन्दा प्रतीत होती है, पर वस्तुतः उनकी स्तुति है।

"दिसि दिसि देखि दीठ चपल चलावैं मनि—
भूषन दिखावैं मंजु विभव विसाला ज्यों॥
सुवरन-सेवी[२] अभिरूप जन[३] आवैं तिन्हें।
आसु[४] अपनावैं मिलि लावैं गैर माला ज्यों॥"

---

१ ठगाई। २ राजा पक्ष में साक्षर विद्वानों की सेवा करने वाली, वेश्या के पक्ष में सुवर्ण-धन। ३ राजा पक्ष में पंडित, वेश्या पक्ष में अच्छे रूप वाले। ४ शीघ्र।

"कोटिन[1] पै कोटिन कमावै अर्थकामिन तैं।
सदन न सूनो राखै राग इकताला ज्यों[2]॥
निलज निसर्ग नृप राम की समृद्धि सांची।
वित्ताकार वृद्धन बुलावै बारबाला[3] ज्यों॥"

यहाँ बूंदी नरेश रामसिंह की समृद्धि को वैश्या के समान निर्लज्ज कह कर निन्दा के व्याज से राजा की स्तुति की गयी है। यह श्लेष-मूलक व्याजस्तुति है।

स्तुति में निंदा--

"तरु सेमर का जगतीतल में यह भाग्य कहो कम है किससे?
अरुण प्रभ पुष्प लिखे जिसके लख लज्जित हों सरसीरुह से,
समझें जलजात मराल तथा मकरंद-प्रलोभित भृंग जिसे
करके फल-आश विहंगम हैं अनुरक्त सदा रहते जिससे॥"

जिसके फूलों की सुन्दरता पर मुग्ध होकर आये हुए आशाबद्ध पक्षी-गण निराश हो जाते हैं, उस सेमर के वृक्ष की यहाँ स्तुति की गयी है किन्तु वास्तव में निन्दा है। यहाँ सेमर का वृत्तान्त अप्रस्तुत है वस्तुतः बहिराडम्बर वाले कृपण व्यक्ति के प्रति कहा गया है अतः यह अप्रस्तुत प्रशंसा से मिश्रित व्याजस्तुति है।

'बालि ने काँख में दाबि कियो अपमान तऊ न भये प्रतिकारी,
नाक रु कान कटी भगिनी लखि हू न कछू रिस चित्त विचारी,
पूत को मारि जराइ दी लंका पै मारुती हू पै दया उर धारी,
रावन! हौं जग में न लखौं क्षमता में करै समता जु तिहारी॥'

---

१ राजा पक्ष में कोटि अर्थात् शास्त्रीय निर्णय, वेश्या पक्ष में करोड़ों रुपये। २ इकताला राग जिसमें स्थान रिक्त (खाली) नहीं रहता है। ३ वेश्या।

रावण के प्रति अंगद के इन वाक्यों में स्तुति के बहाने निंदा की गयी है। यह शुद्ध व्याजस्तुति है।

(३४) आक्षेप अलङ्कार

'आक्षेप' शब्द अनेकार्थी है। यहाँ आक्षेप का अर्थ निषेध है। निषेधात्मक चमत्कार की प्रधानता के कारण इस अलंकार का नाम आक्षेप है।

आक्षेप में कहीं निषेध का और कहीं विधि का आभास होता है। अतः आक्षेप अलंकार तीन प्रकार का होता है।

प्रथम आक्षेप

विवक्षित[1] अर्थ का निषेध जैसा किये जाने को प्रथम आक्षेप अलंकार कहते हैं।

अर्थात् वास्तव में निषेध न होकर निषेध का आभास होना।

इसके तीन भेद हैं——

(१) विवक्षित अर्थ का वक्ष्यमाण (आगे को कहे जाने वाले) विषय में, अवक्तव्यता (नहीं कहने योग्य) रूप विशेष[2] कहने की इच्छा से निषेध का अभास आभास होना। इसमें भी कहीं तो सामान्य रूप से सूचित की हुई सारी बात का निषेधाभास होता है और कहीं एक अंश कहकर दूसरे अंश का निषेधाभास होता है।

(२) विवक्षित अर्थ का उक्त-विषय में (कही हुई बात में) अति प्रसिद्धता रूप विशेष कहने की इच्छा से निषेधाभास होना। इसमें कहीं वस्तु के स्वरूप का और कहीं कही हुई बात का निषेधाभास होता है।

वक्ष्यमाण निषेधाभास——

"रे खल ! तेरे चरित ये कहिहौं सबहिं सुनाय,
अथवा कहिबो हत-कथा उचित न मोहि जनाय॥"

---

१ जो बात कहने के लिए अभीष्ट हो उसको विवक्षित अर्थ कहते हैं।

२ किसी खास बात को सूचित करने के लिए।

यहाँ नीच चरित्र जो कहना अभीष्ट है वह वक्ष्यमाण है—कहा नहीं गया है, 'कहिहौं' पद से भावि कथनीय है; उसका चौथे चरण में जो निषेध है यह 'खल-चरित्र का कहना भी पाप है' इस विशेष-कथन की इच्छा से ही, अतः निषेध का आभास मात्र है। यहाँ सूचित की हुई बात का निषेध है।

"खिली देखि नव–मालती विरह-विकल वह बाल।
अथवा कहिबे में कथा कहा लाभ इहि काल॥"

विरह-निवेदना-दूती की नायक के प्रति उक्ति है। 'वह तुम्हारे वियोग में मर जायगी' यह कहना अभीष्ट है, किन्तु वाक्यांश कहा नहीं है उत्तरार्द्ध में जो निषेध है, वह नायिका की इस वर्णनातीत अवस्था को सूचित करने के लिए निषेध का आभास है।

उक्त-विषय में स्वरूप का निषेधाभास है—

"दसमुख मैं न बसीठी आयउं।"

रावण के प्रति अंगद की इस उक्ति में उक्ति-विषय में निषेध आभास है, क्योंकि अंगद दूत का कार्य-करता हुआ भी वह अपने दूतपने के स्वरूप का निषेध करता है।

उक्त-विषय में कही हुई बात का निषेधाभास है।

'चन्दन चन्द्रक चन्द्रिका चन्द्र-साल मनिहार,
हौं न कहौं सब होय ये ताको दाहन-हार॥'

विरह-ताप सूचन करना, विवक्षित है, जिसका चौथे पाद में कथन करके भी हौं न कहौं पद से जो निषेध है वह निषेधाभास है। यह निषेध ताप की अधिकता रूप विशेष कथन के लिये, किया गया है।

द्वितीय आक्षेप

पक्षान्तर ग्रहण कर के कथित अर्थ का निषेध किये जाने को द्वितीय आक्षेप कहते हैं।

'कुरु-वृद्ध को युद्ध के धर्म विरुद्ध हते न सिखिंडिहि कै समुहानी,
गुरु द्रौन हु मौन ह्वै सस्त्र तजै सुत धर्म अहो ! जब झूठ बखानी।
छल ही सों हत्यौं न कहा अब मोहि कहै दुरजोधन ये जग जानी,
तुम केसव ! तथ्य कहौ न कहौ चलिहै न कहौ यह सत्य कहानी ॥'

गदा के प्रहार से भूमि में गिरे हुए दुर्योधन की 'श्रीकृष्ण' के प्रति उक्ति है। दुर्योधन ने 'चलिहै न कहा यह सत्य कहानी' यह पक्षान्तर ग्रहण करके 'न कहौ' पद से निषेध किया है।

'छोड़-छोड़ फूल मत तोड़ आली ! देख मेरा—
हाथ लगते ही यह कैसे कुम्हिलाये हैं।
कितना विनाश निज क्षणिक विनोद में है,
दुःखिनी लता के लाल आँसुओं में छाये हैं।
किन्तु नहीं चुन ले तू खिले-खिले फूल सब,
रूप गुण गन्ध से जो तेरे मन भाये हैं॥
जाये नहीं लाल लतिका ने झड़ने के लिये,
गौरव के संग चढ़ने के लिये जाये हैं॥'

उर्मिला ने पूर्वार्द्ध में फूल तोड़ने का निषेध करके उत्तरार्द्ध में पक्षान्तर ग्रहण करके तोड़ने को कहा है।

तृतीय आक्षेप

विशेष कथन की इच्छा से अनिष्ट में सम्मति का आभास होने को तृतीय आक्षेप अलंकार कहते हैं।

अर्थात् विधि का आभास होना !

"जाहु जाहु परदेस पिय ! मोहि न कछु दुख भीर,
लहहुँ ईस ते विनय करि मैं हूं तहाँ सरीर॥"

विदेश जाने को उद्यत नायक के प्रति उद्यत नायिका की इस उक्ति में 'जाहु जाहु' पद से विदेश गमन रूप अनिष्ट की जो सम्मति है वह सम्मति का आभास मात्र है क्योंकि 'आपके वियोग में मैं न जी सकूंगी' यह विशेष-

अर्थ उत्तरार्द्ध में सूचित किया गया है। आक्षेप का यह भेद काव्यादर्श में 'अनुज्ञाक्षेप' नाम से कहा गया है।

"मानु करत बरजति न हौं उलटि दिवावत सौंह,
करी रिसौंही जायगी ? सहज हँसौंही भौंह॥"

मानिनी नायिका को मान करने के लिये पूर्वार्द्ध में सखी कह रही है, वह आभास मात्र है। क्योंकि सखी के—'क्या तुमसे अपनी हँसोहीं भौंहें रिसोहीं की जा सकेगी ?' इस कथन के द्वारा मान का निषेध ही सूचित होता है।

(३५) विरोधाभास अलंकार

वस्तुतः विरोध होने पर भी विरोध के आभास के वर्णन को 'विरोध' अलंकार कहते हैं।

वास्तव में विरोधात्मक वर्ण में दोष होने के कारण विरोध अलंकार में विरोध का आभास होता है, अर्थात् विरोध न होने पर भी विरोध जैसा प्रतीत होना। इसके जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य के साथ परस्पर एक दूसरे का विरोधाभास होने में दश भेद होते हैं।

कुछ उदाहरण—

"दव सम नव किसलय लगत अब ह्वै लगत मृनाल,
लाल ! भयो वा बाल को बिरह-विकल यह हाल॥"

शीतल स्वभाव वाले मृनाल आदि पुष्प जाति को अग्नि के समान ताप-कारक कहने में विरोध प्रतीत होता है, पर वियोग में वे दाहक ही होते हैं, अतः विरोध का आभास है। यहाँ पुष्प जाति से ताप जाति का विरोध है।

"सरद की रैन दैन आनंद के साज सबै,
सोभित सुमंदिर सो स्वच्छ अवरेख्यो आज।
तामें गिरिराज कुंज-गली हू इकोर बनी,
तहाँ-रास-मंडल सिंगार सित लेख्यो आज।

कुण्डल के ऊपर ते श्री-मुख विलोकबे कों,
ढरक्यो स नाल कोल कीट तरँ पैख्यो आज।
झाँकी द्वारकेश की निहारि के अचेतन भे,
चेतन, अचेतन हू चेतन भो देख्यो आज ॥"

यहाँ चेतन मनुष्य जाति का अचेतन क्रिया के साथ और अचेतन कमल जाति का चेतन क्रिया के साथ विरोध है, श्रीप्रभु की महिमा से उसका परिहार है।

"मोरपखा 'मतिराम' किरीट में कंठ बनी बनमाल सुहाई
मोहन की मुसकान मनोहर कुण्डल डोलनि में छवि छाई,
लोचन लोल विसाल विलोकनि को न विलोकि भयो बस माई,
वा मुख की मधुराई कहा कहौं मीठी लगै अँखियान लुनाई"
यहाँ 'लुनाई' गुण का मधुर गुण के साथ विरोध का आभास है।

"या अनुरागी चित्त की गति समझै नहिं कोइ,
ज्यौं ज्यौं बूड़ै स्याम रँग त्यों त्यों उज्वल होइ"

यहाँ स्याम रंग 'गुण' द्वारा उज्वल रंग 'गुण' के उत्पन्न होने में विरोध है, किन्तु श्लेष द्वारा श्याम का अर्थ श्याम रंग के श्रीकृष्ण , हो जाने पर विरोध हट जाता है। यहाँ गुण का गुण के साथ विरोधाभास है।

'मृदुल मधुर हू खल-बचन दाहक होतु बिसेस
जदपि कठिन तउ सुख-करन सज्जन बचन हमेस ॥'

यहाँ 'मृदुल' गुण का 'दाह' क्रिया के साथ और 'कठिन' गुण का 'सुख-करन' क्रिया के साथ विरोधाभास है।

"जाते ऊपर को अहो ! उतर के नीचे जहाँ से कृती,
है पैडी हरि की अलौकिक जहाँ ऐसी विचित्राकृती,
देखो ! भू गिरती हुई सगरजों को स्वर्गगामी किये,
स्वर्गारोहण मार्ग जो कि इनके क्या हैं अनोखे नये ॥"

हरिद्वार की हरि की पैडियों का वर्णन है। नीचे उतरने की क्रिया से ऊपर चढ़ने की (स्वर्गलोक प्राप्ति की) क्रिया के साथ विरोध है पर यहाँ हरि की पैडियों द्वारा नीचे उतर कर श्रीगंगास्नान करने का तात्पर्य होने के कारण वास्तव में विरोध नहीं रहता है।

विरोधाभास अलंकार की ध्वनि--

जहाँ 'अपि' 'तऊ' आदि विरोध-वाचक शब्दों के प्रयोग बिना विरोध का आभास होता है वहाँ विरोध की ध्वनि होती है--

"बंदौ मुनि-पद कंजु[1] रामायन जिन-निरमयउ,
सखर[2] स-कोमल मंजु दोष-रहित दूषन-सहित[3]॥

श्री रामायणी कथा को 'सखर', 'सकोमल' और 'दोष-रहित', 'दूषण-सहित' कहने में विरोध के आभास की ध्वनि निकलती है। विरोध वाचक शब्द का प्रयोग नहीं है।

(३६) विभावना अलंकार

विभावना के अर्थ है--'विभावयन्तिकारणान्तरमस्यामितिविभावना' अर्थात् विभावना अलंकार में कारणान्तर की कल्पना की जाती है। 'विभावना' का मूल अभेद अध्यवसाय है। अतः विभावना के अन्तर्गत रूपकातिशयोक्ति या रूपक अवश्य रहता है। इसकी स्पष्टता काव्य कल्पद्रुक के द्वितीय भाग अलंकार मंजरी में विस्तार से की गयी है।

प्रथम विभावना

प्रसिद्ध कारण के अभाव में भी कार्योत्पन्न होने के वर्णन में प्रथम विभावना कहते हैं।

---

१ महर्षि वाल्मीकिजी के चरण।
२ कठोरतायुक्त, अथवा खर राक्षस की कथायुक्त।
३ दूषण राक्षस की कथायुक्त।

यह दो प्रकार की होती हैं—उक्त-निमित्ता और अनुक्त निमित्ता।

उक्त-निमित्ता—

"रहित सदाई हरियाई हिय-घायनि में,
ऊरध उसास सो झकोर पुरवा की है।
पीव पीव गोपी पीर-पूरित पुकारति है,
सोई 'रत्नाकर' पुकार पपिहा की है।
लागी रहै नैननि सौं नीर की झरी औ उठे—
चित्त में चमक सो चपला की है।
बिनु घनश्याम धाम-धाम ब्रज-मंडल में,
ऊधो! नित बसति बहार बरसा की है।"

यहाँ घनश्याम (मेघ रूप कारण) के बिना ही बरसा रूप कार्य होना कहा गया है। 'घनश्याम' शब्द श्लिष्ट है—इसके मेघ और श्रीकृष्ण दो अर्थ हैं। ब्रज में नित्य बरसा के होने का कारण ऊपर के तीनों चरणों में कारणान्तर कल्पना करके कहा गया है। अतः उक्त-निमित्ता है। यहाँ वियोग से उत्पन्न अश्रुधारा में बरसात का अध्यवसाय लिया गया है। अर्थात् अश्रुधारा न कहकर उसका उपमान बरसा का कथन किया गया है।

अनुक्त निमित्ता—

"पीती स्वयं है न किसे पिलाती,
प्रमत्त हो तू ध्वनि ही सुनाती।
तथापि उन्मत्त अहो! बनाती
विचित्रता कोकिला! तू दिखाती।"

उन्मत्त बनाने में मादक-वस्तु का सेवन प्रधान कारण होता है, किन्तु इस कारण के अभाव में भी यहाँ उन्मत्तता रूप कार्य का होना कहा गया है। यहाँ उन्मत्त बना देने का कारण नहीं कहा है इसलिये अनुक्त निमित्ता है।

"ओठ सुरंग अनूपम सोहैं सुभाव ही वीरियो बाल न खाई,
भूषन हू बिन भूषित देह सुअंजन हू बिन नैन निकाई,
रूस की रासि विलासमयी इक गोपकुमारि बनी छविछाई,
जावक दीन्हें बिना हू अली! छलकै यह पाइन में अरुनाई ॥"

अधर के रक्त होने के कारण पान का खाना और शरीर के भूषित होने आदि के कारण भूषण धारण करना आदि होते हैं। यहाँ इन कारणों के बिना ही रक्त होना आदि कार्य कहे गये हैं। और इसका निमित्त नहीं कहा गया है अतः अनुक्त-निमित्ता है। यहाँ अधरादिकों में स्वाभाविक विभावना है।

प्राचीन संस्कृत ग्रंथ काव्यप्रकाश आदि में विभावना का यही एक भेद है। कुवलयानन्द में विभावना के और भी पाँच भेद माने गये हैं।

द्वितीय विभावना

कारण के असमग्र (अपूर्ण) होने पर भी कार्य उत्पत्ति के वर्णन को द्वितीय विभावना कहते हैं।

"तिव! कत कमनैती[1] पढ़ी बिन जिह[2] भौंह कमान,
चल चित्त बेधत चुकत नहिं बंक-विलोकन बान॥"

धनुष की डोर से खैंच कर सीधे बाणों से निशाना मारा जाता है अतः धनुष में डोरी का होना और बाणों में टेढ़ापन होना अपूर्णता है। यहाँ डोरी-रहित भृकुटी रूप धनुष और कटाक्ष रूपी टेढ़े बाण इन दोनों अपूर्ण कारणों से ही चंचल-चित्त के बेधन करने का कार्य होना कहा गया है।

"दीन न हो गोरे! सुनो, हीन नहीं नारी कभी
भूत-दया-मूर्ति यह मन से शरीर से।
क्षीण हुआ वन में क्षुधा से मैं विशेष तब
मुझको बचाया मातृ जाति ने ही खीर से।"

---

१ धनुष-विद्या। २ धनुष की प्रत्यंचा-डोरी।

"आया जब मार[1] मुझे मारने को बार-बार
अप्सरा अनीकिनी सजाये हेम-तीर से।
तुम तो यहां थीं, धीर ध्यान ही तुम्हारा वहाँ
जूझा मुझे पीछे कर पंचशर[2] वीर से॥"

यशोधरा के प्रति बुद्धदेव की इस उक्ति में यशोधरा के ध्यान मात्र अपूर्ण कारण द्वारा कामदेव की विजय करने का कार्य होना कहा गया है।

तीसरी विभावना

प्रतिबन्धक होने पर भी कार्य की उत्पत्ति कथन करने को तीसरी विभावना कहते हैं।

अर्थात् कार्य का बाधक[3] होने पर भी कार्य का उत्पन्न होना।

"तेरे प्रताप रवि का नृप ! तेज जो कि—
लोकातिरिक्त सुविचित्र चरित्र, क्योंकि—
जो है अछत्र उनको यह ताप-हारी,
हैं छत्र-धारित उन्हें अति ताप-कारी॥"

छाते से सूर्य का ताप रुक जाता है। यहाँ राजा के प्रताप रूपी सूर्य द्वारा छत्र को धारण करने वालों को (छत्रधारी शत्रु राजाओं को) छाते रूप बाधक-कारण होने पर भी सन्तापित होना कहा गया है।

"तुव बैनी-ब्याली रहै बांधी गुनन्ह बनाइ,
तऊ वाम ब्रज-चंद को बदाबदी डसि जाइ॥"

वेणी रूप सर्पिणी का गुणों (श्लेषार्थ डोरों) से बँधी हुई होना डंक मारने का प्रतिबन्धक है। फिर भी उसके द्वारा डसने रूप कार्य का किया जाना कहा गया है।

---

१ कामदेव। २ कामदेव। ३ रोकने वाला।

चौथी विभावना

अकारण से कार्य उत्पन्न होने के वर्णन को चौथी विभावना कहते हैं।

अर्थात् जिस कारण से कार्य उत्पन्न होना चाहिए उस कारण के बिना दूसरे कारण द्वारा कार्य होना।

"आवत् हैं तिल-फूल[१] तें मलय-सुगंध समीर,
इंदीवर-दल जुगल तें निकरत तीच्छन तीर॥

न तो मलय सुगन्धित वायु के आने का (उत्पन्न होने का) कारण तिल का पुष्प हो सकता है। और न बाणों के निकलने का (उत्पन्न होने का) कारण कमलदल ही। किन्तु यहाँ इन दोनों अकारणों द्वारा इन दोनों कार्यों का उत्पन्न होना कहा गया है।[१] यहाँ रूपकातिशयोक्ति मिश्रित है।

पंचम विभावना

विरुद्ध कारण द्वारा कार्य उत्पत्ति होने के वर्णन को पाँचवीं विभावना कहते हैं।

"मार[२] सुमार करी खरी मरी मरीहि न मार--
सींच गुलाब जल घरी घरी! अरी बरीहि न बार।"

यहाँ गुलाबजल रूप शीतल कारण द्वारा जलाना रूप विरुद्ध कार्य होना कहा गया है।

छठी विभावना

कार्य द्वारा कारण उत्पन्न होने के वर्णन को छठी विभावना कहते हैं।

"ललन-चलन की बात सुनि दहक-दहक हिय जात,
दृग-सरोज से निकास अलि! सलिल-प्रवाह बहात॥"

---

१ यहाँ कवि का तात्पर्य तिलफूल कहने का नायिका की नासिका से और कमलदल कहने का नायिका के नेत्रों से है।

२ कामदेव।

जल से उत्पन्न होने से कमल का कारण जल है, किन्तु यहाँ दृग सरोजों से जल के प्रवाह का उत्पन्न होना अर्थात् कार्य से कारण का उत्पन्न होना कहा गया है।

भारतीभूषण में विभावना का सामान्य लक्षण यह लिखा है कि "जहाँ कारण और कार्य के सम्बन्ध का किसी विचित्रता से वर्णन हो।" पृ० २२२। किन्तु इस लक्षण में अतिव्याप्तिदोष है क्योंकि कारणातिशयोक्ति और असंगति और विशेषोक्ति आदि में भी कारण और कार्य का विचित्र सम्बन्ध वर्णन होता है।

(३७) विशेषोक्ति अलंकार

अखण्ड-कारण के होते हुए भी कार्य न होने के वर्णन को विशेषोक्ति कहते हैं।

'विशेषोक्ति' पद 'वि', 'शेष' और 'उक्ति' से बना है। 'वि' उपसर्ग का अर्थ 'गत' है और 'शेष' का अर्थ यहाँ 'कार्य' है न्याय-सूत्र के भाष्यकार श्रीवात्स्यायन ने 'शेषवत्' ऐसा अनुमान का प्रभेद कहकर कार्य से कारण का उदाहरण दिया है। अतः विशेषोक्ति का शब्दार्थ यह है कि गत हो गया है कार्य जिसका ऐसे कारण की उक्ति अर्थात् कारण होते हुए कार्य का न होना कहा जाना। उद्योतकार ने विशेषोक्ति का यह अर्थ किया है कि कुछ विशेष (खास) बात के प्रतिपादन के लिये उक्ति होना— 'किञ्चित् विशेषप्रतिपादयितुमुक्तिः।'

विभावना में कारण के बिना कार्य का उत्पन्न होता है और इसमें कारण न होने पर भी कार्य नहीं होता है। अतः यह, 'विशेषोक्ति' अलंकार विभावना के विपरीत है। इसके तीन भेद हैं—

अनुक्त निमित्ता—

"रसीली मीठी है सुमधुर सुधा के रस मिली,
नसीली भी देखो प्रमुदित हमारी मति छली,

रुची से पी भी ली तदपि न पिपासा शमन हो,
तुम्हारी कैसी ये सरस-कविता है नव अहो !"

तृषा मिटाने का कारण तृप्ति-पूर्वक पान करना है। यहाँ रुचिपूर्वक पी लेने पर तृषा का शान्त न होना कहा गया है।

उक्त-निमित्ता--

"देख रहा है प्रतिपल
अगणित जन प्रत्यक्ष मृत्यु-मुख-गत भी,
रागांध चित्त फिर भी
होता नहीं है यह विषम-विमुख कभी ॥"

'सर्वदा जगत् को मृत्यु-मुख में प्रवेश करते हुए देखना' विषयों से विरक्त होने के कारण होने पर भी विरक्त न होना कहा गया है। उसका निमित्त चित्त का रागान्ध होना कहा गया है।

"है वापी[१] भी मरकत-मयी[२] रत्न-सोपान[३] वाली,
छाये हेमोत्पल[४] कल[५] जहाँ नाल वैदूर्य[६] शाली।
पानी भी है विमल उसमें हंस हैं हर्ष पाते,
वर्षा में भी अति-निकट के मानसी को न जाते ॥"

वर्षाकाल में अन्यत्र के जल में गंदलापन आ जाने के कारण सारे हंस मानसरोवर को चले जाते हैं अतएव हंसों को मानसरोवर जाने का वर्षा-काल कारण है। यह मेघदूत में यक्ष ने अपनी गृह-वापिका के हंसों का वर्षा-काल में भी मानसरोवर को न जाना कहा है। और न जाने का निमित्त उस बावड़ी के जल का निर्मल होना कहा गया है अतः उक्त-निमित्ता है।

---

१ जल की बावड़ी। २ पन्नों के मणियों की। ३ सीढ़ी--जीना। ४ सुवर्ण कान्ति के कमल। ५ मनोहर। ६ एक प्रकार का रत्न लहसुनिया।

अचिन्त्य निमित्ता--

"कदन कियो हर मदन-तन तउ न कियो वल छीन,
कुसुम-सरन इकलोकरत त्रिभुवन निज आधीन[1] ॥"

यहाँ कामदेव के शरीर का नाश होने रूप कारण के होने पर भी उसके वल का नाश न होना कहा गया है। और इस वल-नाश के नहीं किये जाने का कारण अज्ञात होने से अचिन्त्य है।

(३८) असम्भव अलङ्कार

किसी अर्थ की सिद्धि की असम्भवता वर्णन की जाने को 'असम्भव' अलंकार कहते हैं।

असम्भव का अर्थ स्पष्ट है--

"गोपों से अपमान जान अपना क्रोधान्ध होके तभी,—
की वर्षा व्रज इन्द्र ने सलिल से चाहा डुवाना सभी।
यों ऐसा गिरिराज आज कर से ऊँचा उठाके अहो ?
जाना था किसने कि, गोप शिशु यह रक्षा करेगा कहो ?"

गिरिराज के उठाये जाने रूप कार्य की सिद्धि की भगवान् श्रीकृष्ण को 'गोप-शिशु' कहकर 'जाना था किसने' इस कथन से असम्भवता कथन की गयी है।

चन्द्रालोक में असम्भव नाम से यह अलंकार स्वतन्त्र लिखा है। काव्य-प्रकाश और सर्वस्व में ऐसे उदाहरण 'विरोध' के अन्तर्गत दिखाये गये हैं।

"केसरि त्यों नल नील सुकंठ पहारहिं ख्याल में खोदि वहैहैं,
अंगद औ हनुमान सुखेन सही 'लछिराम' धुजा फहरैहैं,

---

१ वियोगिनी की उक्ति है, महादेवजी ने कामदेव को भस्म भी कर दिया तो भी उसका वल नष्ट न किया। यह एक ही तीनों लोक को अपने वश में करता है।

वानर भालु कुलाहल में जल जीव तरंग सबै दबि जैहैं,
जानै को आज महीपति राम सबैदल वारिधि बांधिके ऐहैं।"

समुद्र पर सेतु बांधने के कार्य की यहाँ, 'जाने को आज......'
इस कथन द्वारा असम्भवता कही गयी है।

(३६) असंगति अलङ्कार

असंगति का अर्थ संगति न होना अर्थात् स्वाभाविक संगति का त्याग। असंगति अलंकार में कारण और कार्य की स्वाभाविक (नियमित) संगति का त्याग वर्णन किया जाता है। इसके तीन भेद हैं--

प्रथम असंगति

विरोध के आभास सहित कार्य और कारण के एक ही काल में वैयधिकरण्य[1] वर्णन को प्रथम असंगति अलंकार कहते हैं।

कारण और कार्य एक ही स्थान पर हुआ करते हैं, जैसे—धूंआ होता है वहीं अग्नि होती है। किन्तु प्रथम असंगति में इस नियमित संगति को त्याग कर कारण अन्यत्र होना वर्णन किया जाता है। लक्षण के विरोध के[2] आभास सहित इसलिये कहा गया है कि जहाँ विरोध के आभास बिना कार्य और कारण का वैयधिकरण्य होता है वहाँ अलंकार नहीं होता है। जैसे —

"जौलौं यह टेढ़ो करतु भौंह-चाप कमनीय,
तौलौं बान-कटाक्ष सो विधि जावतु मो हीय।।"

यहाँ हृदय-वेधन रूप कार्य और चाप-आकर्षण रूप कारण का वैयधि-करण्य होने पर भी विरोध नहीं क्योंकि धनुष का आकर्षण अन्यत्र और बाण

---

१ अधिकरण का अर्थ है आश्रय-आधार और वैयधिकरण्य का अर्थ है पृथक्-पृथक् आश्रय अर्थात् पृथक्-पृथक् स्थान पर होना। २ आभास का अर्थ यह है कि वस्तुतः विरोध न होने पर भी विरोध जैसा प्रतीत हो।

का लगना अन्यत्र, यह वास्तविक वैयधिकरण्य है। अतः ऐसे वर्णनों में यह अलंकार नहीं होता है।

उदाहरण—

"हरत कुसुम-छवि कामिनी निज अंगन सुकुमार,
पै बेधत यह कुसुमसर युवकन हिय सर मार॥"

पुष्प काम के बाण हैं। उनकी शोभा अपने अंग की शोभा द्वारा हरण करने का कामदेव का अपराध नायिका करती है अतः दण्ड का कारण जो अपराध है वह नायिका में है और इस अपराध का दंड—कामदेव द्वारा बाण मारने का कार्य—युवा पुरुषों में कहा गया है।

"कत अवनी में जाइ अटत अठान ठानि,
परत न जान कौन कौतुक बिचारे हैं।
कहै 'रत्नाकर' कमल-दलहू सो मंजु,
मृदुल अनूपम चरन रतनारे हैं।
धारे उर अंतर निरन्तर लड़ावें हम,
गावें गुन विविध विनोद मोद भारे हैं।
लागत जो कंटक तिहारे पाँय प्यारे! हाय
आह पहिले ही हिय बेधत हमारे हैं।"

भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति गोपीजनों की इस उक्ति में कांटा लगने रूप कारण भगवान् के चरण में बेधन रूप कार्य गोपीजनों के हृदय में होना कहा गया है।

यहाँ 'आइ पहिले' के प्रयोग द्वारा कारण के प्रथम कार्य होना समझ कर पूर्वोक्त 'कारणातिशयोक्ति' का भ्रम न करना चाहिये। क्योंकि यहाँ कांटा लगने रूप कारण के प्रथम बेधन रूप कार्य का होना मुख्यता से नहीं कहा गया है। किन्तु काँटा लगने रूप कारण का भगवान् के चरण में होना और उसका कार्य जो बेधन करना है वह गोपीजनों के हृदय में होना कहा

गया है। अर्थात् यहाँ कारण का होना अन्यत्र और कार्य का होना अन्यत्र कहा गया है।

"विषयी नृपति कुसंग सो पथ्य-विमुख ह्वै आपु
करत लोक अपवाद जुर[1] चढ़ि सचिवन संतापु॥"

यहाँ 'पथ्य के विमुख होना' (नीतिमार्ग को छोड़ना), यह कारण विषयी राजाओं के और 'लोक-निन्दा रूप ज्वर का ताप' यह कार्य मंत्रियों को होना कहा गया है। इसमें 'पथ्य' और 'जुर' शब्द श्लिष्ट हैं। अतः श्लेष मिश्रित है।

असंगति का विरोधाभास से पृथक्करण--

'असंगति' में एक एकाधिकरण्य वालों का (एक स्थान पर रहना प्रसिद्ध हो उनका) वैयधिकरण्य होता है। और 'विरोध' में वैयधिकरण्य वाली का (भिन्न-भिन्न स्थान पर रहना प्रसिद्ध हो उनका) एकाधिकरण्य होता है।

द्वितीय असंगति

अन्यत्र कर्त्तव्य कार्य को अन्यत्र किये जाने को द्वितीय असंगति अलंकार कहते हैं।

अर्थात् जो कार्य जिस उचित स्थान पर करने के योग्य हो उसे वहाँ न किया जाकर दूसरे स्थान पर किया जाय।

'नृप ! तुव अरि-रमनीन के चरित्र विचित्र लखाहिं,
नयनन ढिंग कंकन लगे तिलक लगे कर माँहिं[2]।'

---

१ ज्वर अथवा दुःख।

२ शत्रुओं की रमणियों के पति रण में मर जाने पर वे रमणियाँ रुदन करती हुई आँसू पोंछती हैं, तब हाथ के कंकण नेत्र के समीप हो जाते हैं और सौभाग्य-चिह्न तिलक पोंछती हैं तब वह तिलक हाथ पर लग जाता है।

तिलक माथे पर लगाया जाता है और कंकण हाथ में धारण किया जाता है, यहाँ कंकण को नेत्रों पर और तिलक को हाथ पर लगाना कहा है।

"साँझ समै आज नन्दजू के नव मन्दिर में,
सजनी ! प्रकास लख्यौ कौतुक रसाल मैं।
रगमगे अंबर सँवारि अंग भावती ने,
प्रेम सरसायो मनि भूषन विसाल मैं।
'सोमनाथ' मोहन सुजान दरसाने त्योंही,
रीझि अलबेली उरझानी और हाल मैं।
मोरवारी बेसरि लै श्रवन सुजान चारु,
साजे पुनि भूलि कै करनफूल भाल मैं।"

यहाँ नायिका के भूषण बेसर का श्रवण पर और कर्णफूल का ललाट में धारण करना कहा है जो उचित स्थान से अन्यत्र है।

तृतीय असंगति

जिस कार्य को करने की प्रवृत्ति हो उसके विरुद्ध कार्य किये जाने को तृतीय असंगति अलंकार कहते हैं।

"मोह मिटावन हेत प्रभु ! लीन्हों तुम अवतार,
उलटो मोहन रूप धरि मोहीं सब ब्रज-नार॥"

यहाँ, विश्व का मोह (अज्ञान) मिटाने के लिये अवतार लेने वाले श्रीकृष्ण द्वारा मोह मिटाने रूप कार्य के विरुद्ध ब्रजांगनाओं को मोहित किया जाना कहा गया है।

"काज महा ऋतुराज वली के यहै वनि आवतु है लखते ही,
जात कह्यो न कहा कहिए 'रघुनाथ' कहै रसना इक एही,
साल रसाल तमालहि आदि दै जेतिक वृच्छलता वन जे ही,
नौ दल कीबे को कीन्हों विचार पै कै पतझार दिए पहले ही।"

नवीन पत्रोत्पन्न करने को आए हुए वसन्त द्वारा पतझड़ किया जाना विरुद्ध कार्य है।

(४०) विषम अलङ्कार

विषम का अर्थ है सम न होना अर्थात् विषम घटना (अनमेल सम्बन्ध) इसके तीन भेद हैं--

प्रथम विषम

परस्पर में वैधर्म्य वाली वस्तुओं का सम्बन्ध अयोग्य[1] सूचन किये जाने को प्रथम विषम अलंकार कहते हैं।

"ऊधोजू ! सूधो विचार है धौं जु कछू समझैं हमहूँ ब्रजवासी,
मनिहै जो अनुरूप कहौं 'मतिराम' भली यह बात प्रकासी-
जोग कहाँ मुनि लोगन जोग कहाँ अबला मति है चपला सी,
स्याम कहाँ अभिराम सुरूप कुरूप कहाँ कूबरी दासी?"

यहाँ श्रीकृष्ण और कुब्जा का संबंध अयोग्य सूचन किया है।

द्वितीय विषम

कर्त्ता को क्रिया के फल की प्राप्ति न हो कर जहाँ अनर्थ की प्राप्ति होती है वहाँ द्वितीय विषम अलंकार होता है।

"आई भुजमूल दिये सुघर सहेलिनि पै,
बाग में अजानि जानि प्रान कछू बहरैं।
कहै 'रतनाकर' पै और हूँ विषाद बढ्यौ,
याद परै सुखद संजोग की दुपहरैं।
धीरज जरयो औ पिय-ज्वाल अधिकानी लखि
नीरज-निकेत स्वेत - नीर भरी लहरैं।

---

१ यथायोग्य न होना अर्थात् श्लाघनीय सम्बन्ध का अभाव होना।

दर्द भई दुसह दुचंद भई हीतल कौं,
सीतल सुगंध मन्द मारुत की लहरैं॥"

यहाँ बाग में आकर वियोगिनी को चित्त बहलाने रूप इष्ट की प्राप्ति न होकर वहाँ के उद्दीपन-विभावों द्वारा प्रत्युत सन्ताप होने रूप अनिष्ट प्राप्ति है।

"खोन गयो उनकी न सुतंत्रता आपनी कीरति खोन गयो मैं,
देन गयो उन कंठ कुठार न आपने पांव पै आप लयो मैं,
मैं उनको हनिबे को गयों नहिं हा उलटो हनि चित्त रयो मैं,
लेन गयो नहिं पातल कों पर आपनो गौरव देन गयो मैं।"

महाराणा प्रताप की विजय करने को जाकर उनके द्वारा अपमानित होकर आये हुए राजा मानसिंह की यह उक्ति है। यहाँ महाराजा मानसिंह को विजय रूप फल की अप्राप्ति ही नहीं अपमान होने रूप अनर्थ की प्राप्ति भी है।

केवल इष्ट की अप्राप्ति में भी पण्डितराज ने यह अलंकार माना है जैसे—

"लोक-कलंक मिटाने को मृग-अंक यहाँ नभ से आकर,
तेरा विमल वदन हुआ था निष्कलंकता दिखलाकर,
मृग-मद-तिलक-रेख मिस फिर भी कल्पित होने लगा वही,
जिन आश्रित को सदा कलंकित करती है प्रमदा सच ही[१]॥"

यहाँ चन्द्रमा को अपना कलंक दूर करने की अप्राप्ति है। इसमें अर्थान्तरन्यास अलंकार मिश्रित है—चौथे चरण में पहिले तीन चरणों के वाक्यार्थ का समर्थन न किया गया है।

---

१ चन्द्रमा अपना कलंक मिटाने के लिए पृथ्वी पर आकर कामिनी का मुख हुआ था पर यहाँ भी कस्तूरी के बिन्दु के तिलक—चिह्न के बहाने से कलंक बना ही रहा है।

इष्ट की प्राप्तिपूर्वक अनिष्ट की प्राप्ति में भी यही अलंकार होता है जैसे—

'मद-मीलित - दृग द्विरद ने विष-तरु कीन्ह खुजाल,
खुजली-सुख तें हू अधिक बढ़ी जलन ततकाल।'

खुजली करना चाहनेवाले हाथी को विष-वृक्ष से खुजली के सुख रूप इष्ट की प्राप्ति होने पर भी विष वृक्ष के स्पर्श से उसके अंग में जलन उत्पन्न हो जाने के कारण अनिष्ट की प्राप्ति भी है।

तृतीय विषम

कारण से गुण-क्रियाओं से कार्य के गुण-क्रियाएँ क्रमशः विरुद्ध वर्णन करने को विषम का तीसरा भेद कहते हैं।

गुण-विरोध—

"अन्तर्निर्मल मिष्ट शीतल सदा सु-स्वादु गम्भीर भी,
पाती है गुण की कहीं न समता श्रीजाह्नवी-नीर की।
है वो यद्यपि श्वेत, दूर करता मालिन्य भी सर्वथा,
देता है पर कृष्ण-रूप उसकी है ये अनोखी प्रथा॥"

श्रीगंगा के निर्मल और श्वेत रंग के जल के स्नान और पान के द्वारा श्याम रूप हो जाना (श्लेषार्थ श्रीकृष्ण-रूप प्राप्त हो जाना) विरुद्ध है।

क्रिया-विरोध—

"प्रान-प्रिये ! तू निकट में आनन्द देत अपार,
पर, तेरे ही विरह की ताप करत तन छार॥"

यहाँ नायिका कारण है, आनन्द देना उसकी क्रिया है, उसके द्वारा तापदान क्रिया का विरोध है—जो सुख देता है, उसके द्वारा दुःख दिया जाना विपरीत है।

असंगति अलंकार में कार्य-कारण का वैयधिकरण होता है और विरोध अलंकार में वैयधिकरण्य का एकाधिकरण्य होता है और (विषम

के इस तीसरे भेद में) कार्य कारण के विजातीय गुण और क्रिया का योग चमत्कार होता है।

(४१) सम अलंकार

'सम' का अर्थ यथायोग्य है। यह अलंकार 'विषम' के विपरीत है। इसके तीन भेद होते हैं--

यथायोग्य सम्बन्ध वर्णन किये जाने को 'सम' अलंकार कहते हैं।

यथायोग्य अर्थात् श्लाघनीय सम्बन्ध कहीं उत्तम पदार्थों का और कहीं निकृष्ट पदार्थों का होता है अतः यह दो प्रकार का होता है।

(१) 'सद्योग में' अर्थात् उत्तमों का श्लाघनीय यथायोग्य सम्बन्ध होना।

(२) 'असद्योग में' अर्थात् असद् वस्तुओं का निन्दनीय यथायोग्य सम्बन्ध होना।

सद्योग में---

"भागीरथी ! बिगरी गति मैं अरु तू बिगरी गति की है सुधारक,
रोगी हौं मैं भव भोगी डस्यो अरु याकी प्रसिद्ध है तू उपचारक,
मैं तृषना अति व्याकुल हौं तू सुधारस आकुल ताप-निवारक,
मैं जननी ! सरनागत हौं अरु तू करुनारत है जगतारक॥"

'मैं बिगरी गति' और 'तू बिगरी गति की सुधारक' इत्यादि यहाँ श्लाघनीय योग्य सम्बन्ध वर्णन किये गये हैं।

"श्री रूपा मिथिलेशनंदिनी श्याम राम नारायण रूप,
योग रमा से रमा-रमण का दर्शनीय है यह अनुरूप,
है सुवर्ण में सौरभ का यह मणि-कांचन का मिला सुयोग,
तृषित-सुधा-रस पाके प्रमुदित करने लगे यही सब लोग॥"

यहाँ श्री राम और जानकी जी का योग्य सम्बन्ध श्लाघनीय कहा गया है।

असद्योग में--

"उचितहि है बानर-सभा आसन मृदु तरु-साख,
नख-रद-छत आतिथ वहाँ करत चिकार सुभाष॥"

बानरों की सभा में वृक्षों की शाखाओं के आसन और दांत तथा नखों के क्षतों (घावों) का आतिथ्य आदि उसके अनुरूप ही कहे गये हैं। यहाँ असत् योग है।

द्वितीय सम

कारण के अनुरूप कार्य-वर्णन किये जाने को द्वितीय सम अलंकार कहते हैं।

यह तीसरे 'विषम' अलंकार के विपरीत है। वहाँ कारण के प्रतिकूल और यहाँ कारण के अनुकूल कार्य वर्णन किया जाता है।

"बड़वानल, विष, व्याल संग रह्यो जो जलनिधि माँहि।
अवलन को दुख देत ससि यामें अचरज काहि॥"

यहाँ समुद्र में वड़वाग्नि आदि के संग रहने वाले चन्द्रमा द्वारा सन्ताप करने रूप कार्य उसके अनुरूप कहा है।

तृतीय सम

बिना अनिष्ट के कार्य की सिद्धि होने के वर्णन को तृतीय सम अलंकार कहते हैं।

यह द्वितीय विषम अलंकार के विपरीत है। इसमें कार्य की सिद्धि मात्र का वर्णन होता है और जहाँ उत्कृष्ट इष्ट की प्राप्ति होती है, वहाँ प्रहर्षण अलंकार होता है।

"जल बसि नलिनी तप कियो ताको फल वह पाय,
तव पद ह्वैया जनम में सु-गति लही इत आय[१]।"

यहाँ सुगति (उत्तम लोक प्राप्त होने की गति) मिलने के लिये तप करने के उद्यम से कमलिनी को सुगति रूप कार्य की प्राप्ति कथन की गयी है, यहाँ श्लेष मिश्रित 'सम' है—'सुगति' द्वयर्थक शब्द है।

कहीं अनिष्ट प्राप्ति में भी श्लेष के चमत्कार से 'सम' होता है—

'आयो बारन लैन तू भलो सुयोग विचार,
आवत ही बारन मिल्यो कवि! तोको नृप-द्वार॥"

हाथी माँगने की इच्छा से आये हुए किसी कवि के प्रति उक्ति है कि तू वारण (हाथी) माँगने को अच्छे मुहूर्त में आया जो तुझे राजा के द्वार पर ही वारण (निवारण-अन्दर जाने से रोक देना) मिल गया। यद्यपि श्लेष द्वारा निवारण रूप अनिष्ट की प्राप्ति है, पर राजद्वार पर क्षण भर के लिये निवारण किया जाना विषम की भाँति उत्कट अनिष्ट नहीं अतः कुवलयानन्द में यहाँ 'सम' माना है।

(४२) विचित्र अलंकार

इच्छा के विपरीत प्रयत्न किये जाने के वर्णन को विचित्र अलंकार कहते हैं।

विचित्र का अर्थ है अद्भुत, विस्मय अर्थात् आश्चर्य। विचित्र अलंकार में इच्छा के विपरीत प्रयत्न रूप अद्भुतता वर्णन की जाती है।

'सुख के अभिलाषित होकर किन्तु निरन्तर दुःख बड़े सहते,
अति इच्छुक उन्नति के फिर भी वह नम्र सदैव बने रहते।

---

१ हे प्रिये, सत्य है कि तप से सुगति मिलती है। कमलिनी ने सुगति प्राप्त करने के लिए जल में रहकर सूर्य की सेवा की थी, उस तप के फल से उस कमलिनी ने इस जन्म में तुम्हारे चरण रूप होकर सुगति (गमन करने की सुन्दरता) प्राप्त की है।

तन त्राण-समुत्सुक वे, न कभी निज-प्राण-विसर्जन में डरते,
जन सेवक ये निज-ईप्सित से सब कार्य विरुद्ध किया करते।'

सुख की प्राप्ति के लिये दुख सहन करना, उन्नत होने के लिये नम्र होना और जीवन रक्षा के लिये प्राण त्याग करना ये सब इच्छा के विपरीत प्रयत्न कहे गये हैं।

"नमत उंचाई काज लाज ही बढ़ाय जिय,
गुरुता के हेत निज लघुता करत हैं।
सुख ही के काज सब सहैं दुख द्वन्दन को
सत्रुन के जीतबे कों सान्ति ही धरतु हैं।
कहै कवि 'निरमल' जो हैं संत बड़भागी,
बातैं कोऊ आन अरी तासों न अरतु हैं।
धन पाइबे के हेत धन ही को त्याग करैं,
मान पाइबे के हेत मान ना भरत हैं॥"

यहाँ सन्त जनों के लघुता आदि कार्य गुरुता आदि की इच्छाओं के विपरीत हैं।

"क्यों न सुर-सरति[१] को सुमिरि दरसि परसि सुख लेतु,
जाके तट में मरत नर अमर होन के हेतु"

अमर होने रूप इष्ट की इच्छा से 'मरना' विपरीत प्रयत्न है। विषम अलंकार के तीसरे भेद में कारण से कार्य के गुण या क्रिया विरुद्ध होते हैं और यहाँ इष्ट-सिद्ध के लिये विपरीत प्रयत्न किया जाना है।

(४३) अधिक अलंकार

बड़े आधेय[२] और आधारों[३] की अपेक्षा वस्तुतः छोटे भी आधार और आधेय क्रमशः बड़े वर्णन किये जाने को अधिक अलंकार कहते हैं।

---

१ देवता। २ जो वस्तु किसी दूसरी में रक्खी जाती है वह आधेय है। ३ जिसमें कोई वस्तु रक्खी जाती है वह आधार है।

अधिक का अर्थ स्पष्ट है। अधिक अलंकार लक्षण के अनुसार आधाराधेय की अधिकता पर निर्भर है। यह दो प्रकार का होता है—

(१) आधेय की अपेक्षा वस्तुतः आधार छोटा होने पर भी (आधार की उत्कृष्टता दिखाने के लिये) बड़ा वर्णन किया जाय ?

(२) आधार की अपेक्षा वस्तुतः आधेय छोटा होने पर भी (आधेय की उत्कृष्टता दिखाने के लिये) बड़ा वर्णन किया जाय ?

प्रथम प्रकार—

"यह लोक चतुर्दश आदि सभी जिसके प्रतिलोम अवस्थित हैं।
तब क्या गणना भुवि मंडल की यह अल्प विभाग बना मित है,
विधि शेष सुरेश महेश अहो! जिसकी महिमा-वश मोहित हैं।
उसको निज अंक लिये सुख से जननी निज-मन्दिर शोभित हैं॥"

श्रीकृष्ण आधेय और यशोधरा जी आधार हैं। जिनके प्रत्येक रोम में अनेक ब्रह्माण्ड स्थित हैं ऐसे श्रीकृष्ण की अपेक्षा यशोदा जी की गोद वस्तुतः छोटे होने पर भी 'सुख से' निज अंक में लिये और 'प्रमोदित' पदों द्वारा यहाँ बड़ी वर्णन की है।

'सिव-प्रचंड-कोदण्ड को तानत प्रभु भुजदण्ड,
भयो खंड वह चंडरव नहिं मायो ब्रह्मण्ड॥'

यहाँ बड़े आधार ब्रह्माण्ड की अपेक्षा आधेय-धनुष-भंग का शब्द वस्तुतः न्यून होने पर भी 'नहिं मायो' पद द्वारा बड़ा कथन किया गया है।

(४४) अल्प अलंकार

छोटे आधेय की अपेक्षा वस्तुतः बड़ा आधार भी छोटा वर्णन किये जाने को अल्प अलंकार कहते हैं।

अल्प का अर्थ स्पष्ट है। अल्प अलंकार में लक्षण के अनुसार आधाराधेय की अल्पता वर्णन की जाती है।

"सुनहु स्याम ब्रज में जगी दसम दशा की जोति,
जहँ मुंदरी अंगुरीन की कर में ढीली होति॥"

यहाँ आधेय मुंदरी (अँगूठी) की अपेक्षा आधार-हाथ वस्तुतः बड़ा होने पर भी ढीला 'होत' पद से छोटा कहा गया है।

"ग्वाल हेत सात दिन धारयो एक कर ही पै;
गिरि गिरिराज ताकैं कैसें अब श्रम आत।
विश्वभार उदर दिखायो मुख द्वार करि,
निरखे जसोदा कीन्हीं चौंकी सी चकी सी मात।
धारयो ब्रह्म अंडज अनेक रोम-कूप जल,
दीसै जगदीस अब यहै फैल की-सी बात।
उछरि-उछरि आत गेंद जिमि तो मैं लगि,
मेरो मन अणू आपहू तैं सो न धारयो जात॥"

यहाँ मन-आधेय की अपेक्षा भगवान् का रूप बड़ा होने पर भी 'आपहू तैं सो न धारयो जात' इस वाक्य द्वारा छोटा कहा गया है।

कुवलयानन्द में 'अल्प' को स्वतन्त्र अलंकार लिखा है। अन्य ग्रन्थों में इसको अधिक अलंकार के अन्तर्गत माना है।

(४५) अन्योन्य अलंकार

एक ही क्रिया द्वारा दो वस्तुओं की परस्पर कारणता होने के वर्णन को 'अन्योन्य' अलंकार कहते हैं।

'अन्योन्य' का अर्थ परस्पर है। अन्योन्य अलंकार में दो वस्तुओं को परस्पर एक जाति की क्रियाओं का उत्पादक कहा जाता है।

"राजमरालन सों कल ताल[1]रु ताजसों राममराल[2] सुहावै,
चंद की चाँदनी सों निसिहू निसि सों छवि चंद की चाँदनी पावै,
राजन सों कविराज बढ़ै, जस-राजन को कविराज बढ़ावैं,
धरनीतल में लखि लेहु प्रतच्छ परस्पर ये सुखमा विलसावैं॥"

---

१ सरोवर। २ हंस।

यहाँ राजमराल और ताल आदि को परस्पर में शोभा करने आदि एक जाति की क्रियाओं के उत्पादक कहे गये हैं।

"छीदी अँगुरिन पथिक ज्यों पीवन लाग्यो वारि,
प्रपापालिका[1] हू करी त्यों-त्यों पतरी धारि॥"

यहाँ पथिक और प्रपापालिका को परस्पर में साभिलाष निरीक्षण रूप उपकारात्मक एक क्रियाओं के उत्पादक कहे गये हैं।

भारतीभूषण में अन्योन्य अलंकार के—परस्पर में कारणता, परस्पर उपकार और परस्पर व्यवहार में—तीन भेद कह कर पृथक्-पृथक् लक्षण लिखे हैं। पर प्राचीनों के निर्दिष्ट —'एक जाति की क्रियाओं का परस्पर में उत्पादन होना' इस लक्षण में सब का समावेश हो जाता है। अतः उपकारात्मक क्रियाओं का होना और समान व्यवहारात्मक क्रियाओं का होना उदाहरणान्तर मात्र है, न कि, पृथक्-पृथक् भेद।

(४६) विशेष अलंकार

विशेष का अर्थ है अ-सामान्य--असाधारण अर्थात् विलक्षण। विशेष अलंकार में आधार के बिना आधेय की स्थिति होना इत्यादि विलक्षण वर्णन किया जाता है। इनके तीन भेद हैं--

प्रथम विशेष

प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय की स्थिति वर्णन किये जाने को प्रथम विशेष अलंकार कहते हैं।

"वंदनीय किहिं के नहीं वे कविन्द मतिमान,
स्वरग गये हू स्थित यहाँ जिनकी गिरा महान॥"

यहाँ कवि रूप आधार के बिना ही उनकी वाणी (काव्यात्मक सूक्ति रूप आधेय की स्थिति कही गयी है।

---

१ प्याऊ पिलाने वाली।

"सूरवीर दाता सुकवि सेतु करावनहार,
बिना देह हू 'दास' ये जीवतु इहि संसार॥"

यहाँ शूरवीर आदिकों की, देह के बिना संसार में स्थित कही गयी है।

"जब क्षितिज के गर्भ में छिप भास्कर-प्रतिभा गई,
तब प्रतीचीव्योम में आकर अरुणिमा छा गई।
देखकर उसकी प्रभा को, हो उठी जी में तरंग,
छोड़ जाते हैं बड़े जन अंत यश अपना अभंग॥"

यहाँ सूर्य-आधार के बिना अरुणिमा रूपी यश-आधेय की स्थिति कही है।

द्वितीय विशेष

किसी वस्तु की एक ही स्वभाव से एक ही काल में अनेक स्थानों पर स्थिति के वर्णन को द्वितीय विशेष अलंकार कहते हैं।

"कवि - वचनों में और रमणियों के नयनों में,
जनकनंदिनी-हृदय प्रेम-पूरित लहरों में,
रघुनन्दन स्थित हुए साथ ही एक समय में,
करके शिव-धनु-भंग उसी क्षण रंगालय में॥"

धनुष भंग के समय श्रीरघुनाथ जी की एक रूप से और एक ही काल में कवि-वचन आदि अनेक स्थानों पर स्थित वर्णन की गयी है।

तृतीय विशेष

किसी कार्य को कहते हुए कोई दूसरा अशक्य कार्य भी किये जाने के वर्णन को तृतीय विशेष अलंकार कहते हैं।

"सुकृत कर्म श्रुति-विहित सभी शुभ, रहे न उसको करने शेष,
त्रिभुवन श्रिय-वैभव भी उसने अपने वश कर लिये अशेष,
भोग-विलास देव-दुर्लभ भी भोग लिये आनन्द समेत,
किया तुम्हारा अर्चन कुछ भी जिसने, शंकर! कृपानिकेत!"

यहाँ आशुतोष भगवान् शंकर के किञ्चित् अर्चन रूप कार्य करने वाले कर्त्ता द्वारा त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति रूप अशक्य कार्य किया जाना कहा गया है।

"गृहिनी सचिव रु प्रिय सखी मम जीवन हू हाय,
तुहि छीनत मेरी सबैं बिधि ने लियो छिनाय॥"

इंदुमती के संहार करने रूप एक ही यत्न से विधाता द्वारा राजा आज के सभी सुखों के नाश करने रूप अशक्य कार्यों का किया जाना कहा गया है। यह संहार का उदाहरण है।

(४७) व्याघात अलंकार

जिस उपाय से किसी व्यक्ति द्वारा कुछ कार्य सिद्ध किया जाय, उसी उपाय से (उसी प्रकार के उपाय से) दूसरे किसी व्यक्ति द्वारा वह कार्य अन्यथा (विपरीत) किये जाने को 'व्याघात' अलंकार कहते हैं।

"व्याघात" में 'वि' और 'आघात' दो अंश हैं। 'वि' का अर्थ है विशेष और आघात का अर्थ प्रहार या धक्का अतः व्याघात का अर्थ है विशेष प्रकार का प्रहार! व्याघात अलंकार में अन्य व्यक्ति द्वारा सिद्ध किये गये कार्य को अन्य द्वारा प्रहार करके अन्यथा किया जाता है। कहा है—'साधितवस्तुव्याहतिहेतुत्वात् व्याघातः'—काव्यप्रकाश वृत्ति।

"दीन जनन को कहि वचन दुर्जन जग दुख देत,
तिनही सों हरषित करहिं सज्जन कृपा निकेत॥"

दुष्टों द्वारा जिस वचन कहने रूप उपाय से दीन जनों को दुःख देने का कार्य किया जाता है, उसी वचन रूप उपाय से सज्जनों द्वारा वह दुःखरूप कार्य अन्यथा किया जाना अर्थात् सुख दिया जाना कहा गया है।

"जो पिय जानत हौ हमको अबला तो हमें कबहूँ मति छोड़ो।"

वन को जाते हुए श्रीरघुनाथजी ने वन को न चलने और घर पर रहने के लिये जानकी जी को, स्वाभाविक सुकुमारता और भीरुता आदि सूचक

'अबला' होने रूप जो कारण कहा था उसी 'अबला' होने रूप कारण को प्रत्युत जानकीजी ने साथ ले चलने का कारण सिद्ध किया है।

इस प्रकार के उदाहरणों को अलंकार सर्वस्व आदि में व्याघात का दूसरा भेद माना है, पर इन दोनों उदाहरणों में साधित वस्तु का व्याहनन (नाश) है, इसीलिये काव्यप्रकाश में दो भेद न मानकर एक ही भेद माना है।

"काम को दृग-भंगि से था दग्ध शंकर ने किया,
कर रही दृग-भंगि ही जो कि जीवित हैं उसे,
रमणियों को लोग कहते हैं अत: हर विचयिनी,
किन्तु हम तो मानते हैं कल्पना कवि की इसे ॥"

इसमें श्रीशंकर द्वारा जिस दृष्टिपात से कामदेव को दग्ध करने का कार्य किया गया, उसी दृष्टिपात से कामिनियों द्वारा कामदेव को जीवित (उत्तेजित) किया जाना कहा गया है।

(४८) कारणमाला अलंकार

पूर्व-पूर्व कहे हुए पदार्थ, जहाँ उत्तरोत्तर कहे हुए पदार्थों के कारण कहे जाते हैं, वहाँ कारणमाला अलंकार होता है।

कारणमाला अर्थात् कारणों की माला। यहाँ उत्तरोत्तर कहे हुए अनेक पदार्थों के—माला की भाँति—शृंखलाबद्ध पूर्व-पूर्व कहे हुए अनेक पदार्थ कहे जाते हैं।

पूर्वोक्त मालादीपक में भी उत्तरोत्तर कहे हुए पदार्थों के पूर्व-पूर्व कहे पदार्थ कारण भाव से कहे जाते हैं, पर वहां उन सब का एक क्रिया में अन्वय होता है, यहाँ एक क्रिया में अन्वय नहीं होता है।

"विषयान के ध्यावन सों तिनमें रति ह्वै अभिलाष बढ़ावतु है,
अभिलाष न पूरन होय तवै चित्त क्रोध घनो भरि आवतु है,
नर क्रोधित ह्वै पुनि मोहित ह्वै स्मृति को भ्रमहू उपजावतु है,
स्मृति भ्रष्ट भये मति-नष्ट वन मति-नष्ट भये विनसावतु है ॥"

यहाँ पहिले कहा हुआ विषयों का ध्यान उसके पश्चात् कहे हुए विषयों की अभिलाषा का कारण कहा गया है। फिर 'अभिलाषा का पूर्ण न होना' क्रोध का कारण कहा गया है, इसी प्रकार उत्तरोत्तर कहे हुए पदार्थों के यहाँ पूर्व-पूर्व कहे हुए पदार्थ कारण कहे गये हैं, अतः कारणों की माला है।

जहाँ पूर्व-पूर्व कथित कहे हुए पदार्थों के उत्तरोत्तर कथित पदार्थ कारण कहे जाते हैं वहां भी कारणमाला होता है। जैसे—

"मूल करनी की धरनी पै नर-देह लैबो,
देहन को मूल एक पालन सु नीको है।
देह पालिबे को मूल भोजन सु पूरन है,
भोजन को मूल होनो बरषा घनी की है।
'ग्वाल' कवि मूल बरषा हो है जजन जप,
जजन जु मूल वेद भेद बहु नीको है।
वेदन को मूल ज्ञान, ज्ञान मूल तरबो त्यों,
तरबे को मूल नाम भानु-नंदनी को है॥"

यहाँ 'नर-देह लैबो' आदि जो उत्तरोत्तर कथित हैं। वे पूर्व-पूर्व कथित करनी आदि के कारण कहे गये हैं।

(४६) एकावली अलंकार

पूर्व-पूर्व में कही हुई वस्तु के प्रति उत्तरोत्तर कही हुई वस्तु विशेषण-भाव से स्थापन अथवा निषेध की जाने को 'एकावली' अलंकार कहते हैं।

'एकावली' एक लड़ वाले गले में पहनने वाले हार को कहते हैं। हार में पहिले वाले मोती के साथ उसके बाद का मोती स्थापित किया जाता है—गूंथा जाता है। उसी प्रकार इस अलंकार में पूर्व कथित पदार्थ के साथ उत्तर कथित पदार्थ का स्थापन किया जाता है।

विशेषण-भाव से स्थापन—

'सुमति वही निज-हित लखै हित वह जित उपकार,
उपकृति वह जहँ साधुता साधुन हरि-आधार॥'

यहाँ पूर्व कथित 'सुमति' का इसके उत्तर-कथित कहा हुआ 'निज हित लखै' विशेषण है। फिर 'हित' का 'उपकार' विशेषण है। इस प्रकार उत्तरोत्तर कथित वस्तु का विशेषण भाव से स्थापन किया गया है।

विशेषण-भाव से निषेध—

"सोहत सो न सभा जहँ वृद्ध न, ते जु पढ़े कछु नाँहीं,
ते न पढ़े जिन साधु न साधित दीह दया न दिखे जिन माँहीं,
सो न दया जु न धर्म धरै धर धर्म न सो जहँ दान वृथा ही,
दान न सो जहँ साँच न 'केसव' साँच न सो जु बसै छल छाँही।"

यहाँ सभा आदि के उत्तरोत्तर कथित वृद्धादिक विशेषण हैं, उनका 'सो न' आदि द्वारा विशेषण भाव से निषेध किया गया है।

भारती-भूषण में एकावली का—

"सोहत सर्वसहा सिव सैल तें सैलहु कामलतान उमंग तें,
कामलता विलसै जगदंब तें अंबहु संकर के अरधंग तें,
संकर अंगहु उत्तम अंग तें उत्तम अंगहु चन्द प्रसंग तें,
चन्द जटान के जूटन राजत जूट-जटान के गंग-तरंग तें।"

यह उदाहरण दिया है। इसमें एकावली नहीं किन्तु कारणमाला अलंकार है। क्योंकि शिव-शैल आदि उत्तरोत्तर कथित पदार्थ सर्वसहा (पृथ्वी) आदि पूर्व-कथित पदार्थों की 'सोहत' आदि क्रियाओं के कारण कहे गये हैं, न कि विशेषण। कारणमाला और एकावली में यही तो अन्तर है। स्वयं ग्रन्थकार ने सार अलंकार के प्रकरण में अपने भारतीभूषण में लिखा है—"पूर्वोक्त कारणमाला' 'एकावली' और 'सार' में शृङ्खला-विधान तो समान होता है किन्तु 'कारणमाला' में कार्य-कारण का 'एकावली' में विशेष्य विशेषण का और यहाँ (सार में) उत्कर्ष का सम्बन्ध होता है।"

(५०) सार अथवा उदार अलंकार

पूर्व-पूर्व कथित वस्तु की अपेक्षा उत्तरोत्तर कथित वस्तु का धारा प्रवाह रूप से अन्त तक अधिकाधिक उत्कर्ष वर्णन करने को सार अलंकार कहते हैं।

'सार' का अर्थ है उत्कर्ष। सार अलंकार में स्वरूप, धर्म इत्यादि अनेक प्रकार का उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णन किया जाता है।

सारोत्कर्ष--

"जग में जीवन सार है तासों संपति सार।
संपति सों गुन सार है गुन सों पर उपकार॥"

यहाँ जीवन आदि से उत्तरोत्तर वस्तु का 'सार' पद द्वारा उत्कर्ष वर्णन कहा गया है।

धर्मोत्कर्ष--

"सिला कठोरी काठ ते ताते लोह कठोर
ताहू ते कीन्हों कठिन मन तुम नन्दकिशोर!"

यहाँ 'कठोर' धर्म द्वारा उत्तरोत्तर वस्तु का उत्कर्ष कहा गया है।

स्वरूपोत्कर्ष--

"उन्नति अति गिरि गिरिन सों हरि पद है विख्यातु,
ताहू सों ऊँचो घनो संत-हृदय दरसातु॥"

यहाँ गिरि आदि के उत्तरोत्तर कही हुई वस्तु का स्वरूपोत्कर्ष है। केवल श्लाघ्य पदार्थों के उत्कर्ष में नहीं किन्तु अश्लाघ्य पदार्थों के उत्कर्ष में भी अर्थात् उत्तरोत्तर अपकर्ष में भी 'सार' अलंकार माना गया है।

जैसे--

"रहिमन वे नर मर चुके जो कहुँ मांगन जाँय,
उनते पहिले वे मरे जिन मुख निकसत नाँय॥"

यहाँ उत्तरोत्तर कथित वस्तु का अपकर्ष वर्णन है।

(५१) यथासंख्य अलंकार

क्रमशः कहे हुए अर्थों का जहाँ क्रमशः अन्वय (यथाक्रम सम्बन्ध) होता है वहाँ 'यथासंख्य' अलंकार होता है।

यहाँ शीतलता के तहखाने आदि अनेक आश्रय मेष, वृष आदि संक्रान्तियों द्वारा किये गये हैं।

द्वितीय पर्याय

अनेक वस्तुओं की एक आधार में क्रमशः स्वतः स्थिति हो अथवा दूसरे किसी द्वारा की जाय, उसे द्वितीय पर्याय अलंकार कहते हैं।

यहाँ 'क्रमशः' पद से द्वितीय समुच्चय अलंकार से पृथकता बतायी गयी है क्योंकि द्वितीय समुच्चय में अनेक वस्तुओं की एक आधार में स्थिति एक ही काल में कही जाती है न कि क्रमशः।

"अमृत भरे दरसैं प्रथम मधुर खलन के बैन,
दुःखकारक पीछे बनैं अंतर विष दुख दैन॥"

यहाँ अमृत और विष दोनों वस्तु खल के वचन रूप एक ही आधार में कही गयी है, यह स्वतः सिद्ध आधार है।

अन्य द्वारा--

"वो नैसर्ग्य-मयी सुदृश्य तट का जो पूर्व-कालीन था,
आता सम्प्रति है न दृष्टि-पथ सो है शेष उसकी कथा,
घाटों की अवली बनी अब घनी शोभा-मयी है वहाँ,
भक्तों की करती तथापि वह है प्राकट्य भक्ती महा॥"

यहाँ हरिद्वार के गंगा-तट रूपी एक ही आधार में पूर्व - कालीन और साम्प्रतिक दृश्य दो आधेय कहे गये हैं। और साम्प्रतिक दृश्य भक्तजनों द्वारा किया गया है, अतः अन्य द्वारा है।

"कवच की ठाहर पै कंचुकी कसी है देखु,
तलत्रान[1] ठाहर पै चूरिन को वृन्द है।
कृपा-कोप-पुंज के निवास दोऊ नैनन में,
कजरा भरानो ऐसो महा सोक फंद है।

---

१ धनुष की प्रत्यंचा के घात से बचाने के लिए गोह के चमड़े का बना हुआ एक प्रकार का हस्त-बन्धन।

सिरत्रान[1] जहाँ सीख फूल दोनों हांथन ते,
गाँडीव की घोष[2] ना मृदंगन के छन्द हैं।
कौन देस कौन काल कौन दुख कापै कहूँ,
कैसे निद्रा लगै मोहि कौन सों अनन्द है।"

पांडवों के अज्ञात-वास के समय भीमसेन के प्रति सैरन्ध्री के वेश में द्रौपदी द्वारा यह अर्जुन की शोचनीय दशा का वर्णन है। कवच और कुंचकी तलत्रान और चूड़ी इत्यादि का क्रमशः एक आधार में होना कहा गया है। यह कौरवों से लक्ष्य हो जाने के भय से अर्जुन द्वारा ऐसा किया गया है। अतः अन्य द्वारा है।

'परिवृत्त' अलंकार में एक वस्तु दूसरे को देकर बदले में उससे दूसरी वस्तु ली जाती है, यहाँ यह बात नहीं है।

(५३) परिवृत्ति अलंकार

पदार्थों का सम और असम के साथ विनिमय होने के वर्णन को 'परिवृत्ति' अलंकार कहते हैं।

परिवृत्ति का अर्थ है परिवर्तन अर्थात् विनिमय-अदला बदली करना। एक वस्तु दूसरे को देकर बदले में उसके पास से दूसरी वस्तु ली जाती है उसे विनिमय कहते हैं। परिवृत्ति दो प्रकार की होती है। सम और विषम—

१—'सम' परिवृत्ति—

(क) उत्तम वस्तु देकर उत्तम वस्तु लिया जाना।

(ख) न्यून गुणवाली वस्तु देकर न्यून गुणवाली वस्तु लिया जाना।

२—'विषम' परिवृत्ति—

(क) उत्तम गुणवाली वस्तु देकर न्यून गुणवाली वस्तु लिया जाना।

(ख) न्यून गुणवाली वस्तु देकर उत्तम गुणवाली वस्तु लिया जाना।

---

१ माथे को ढकने का शूरवीरों का टोप। २ गांडीव धनुष का शब्द।

सम परिवृत्ति उत्तम विनिमय--

'दर्शनीय' अति रम्य मनोहर है कलिंदतनया का तीर
कल्लोलित है विमल तरंगित मन्द-मन्द श्यामलशुचि नीर,
लतिकाओं को नृत्य-कला की शिक्षा देकर धीर-समीर,
मधुर-मधुर ले यहा रहाँ पर सुमन गंध उनका गम्भीर।'

यहाँ जमुना - तट के वायु द्वारा लताओं को नृत्य-कला की शिक्षा देकर उनसे पुष्पों की मधुर-गन्ध लेना कहा है। यहाँ दोनों उत्तम वस्तुओं का विनिमय है।

सम परिवृत्ति न्यून विनिमय--

"श्रीशंकर की सेवा में रत भक्त अनेक दिखाते हैं
किन्तु वस्तुतः उनसे क्या वे कुछ भी लाभ उठाते हैं,
अस्थि-मालम्मय-अपने तन को अर्पण वे कर देते हैं,
मुंड-मालमय-तन उनसे बस परिवर्तन में लेते हैं।।"

यहाँ अस्थि-माला वाला शरीर (मनुष्य देह) शिवजी को देकर उनसे मुण्ड-माला वाला शरीर (शिव रूप) लेना कहा गया है। हाड़ों की माला और नर-मुण्डों की माला दोनों न्यून गुण वाली वस्तुओं का विनिमय है। यह व्याजस्तुति मिश्रित परिवृत्ति है।

विषम परिवृत्ति उत्तम के साथ न्यून का विनिमय--

"कासों कहिये आपनो यह अयान जदुराय!
मन-मानिक दीन्हों तुमहिं लीन्हीं बिरह-बलाय।।"

यहाँ मन-माणिक्य रूप उत्तम वस्तु देकर विरह रूप न्यून गुणवाली वस्तु ली गयी है, अतः विषम परिवृत्ति है।

विषम परिवृत्ति न्यून के साथ उत्तम का विनिमय--

'यद्यपि तिर्यक् जाति हीन भी था जटायु वह गीध तथापि—
हुआ स्वर्ग-गत प्रभु के सम्मुख शोचनीय वह नहीं कदापि,

जिसने जीर्ण-शीर्ण अपना वह राम-कार्य में देकर देह,

लिया चन्द्र सम उज्वल यश है धन्य-धन्य यह निस्संदेह।'

जटायु द्वारा न्यून गुण वाला अपना जीर्ण शरीर श्रीरघुनाथ जी के कार्य में अर्पण करके उत्तम गुण वाला निर्मल यश लिया जाना, विषम परिवृत्ति है।

"चामीकर-कोष[१] सस्त्र-वस्त्रन के कोष और—

रत्नन के कोष एक एक ते नवीने हैं।

देस देस संभव तरंग रंग-रंग के जे,

पती है विहंग संग प्रेरक अधीने हैं।

और हू अनेक राज-वैभव स-राष्ट्र जेते,

काज-धृतराष्ट्र कर्न सत्रुन ते झीने हैं।

महाबली अर्जुन को अग्रेज[२] विपनकार[३]

गदा के प्रहार एक देस-भा लीने हैं॥"

यहाँ भीमसेन द्वारा दुर्योधन को एक गदा का प्रहार रूप न्यून गुण वाली वस्तु देकर उसका सारा राज्य वैभव रूप उत्तम वस्तु लिया जाना कहा गया है।

परिवृत्ति अलंकार में कवि-कल्पित विनिमय होता है। जहाँ वास्तविक विनिमय होता है, वहाँ अलंकार नहीं होता। जैसे—

'लेवतु हैं जहँ बालिका मुक्ताफल, दे बेर।!'

यहाँ अलंकार नहीं।

और दूसरे के साथ विनिमय होता है वहीं परिवृत्ति अलंकार होता है जहाँ अपनी ही वस्तु का त्याग और ग्रहण होता है, वहाँ परिवृत्ति अलंकार नहीं होता। जैसे—

"मोतिन के वर भूषन तू नव जोवन में तजि कै किहिं कारन,

कोमल गातन माँहि किये यह वृद्धन जोग जु वल्कल धारन,

---

१ सुवर्ण के खजाने। २ अर्जुन का बड़ा भाई भीमसेन। ३ व्यापारी।

सोभित ह्वै जु प्रदोष समै छवि-चन्द्रकला अति ही मिलि तारन,
क्यों रमनीय लगै रजनी, रमनी ! अरुनोदय ह्वै जु अकारन ।।"

तप करती हुई पार्वती जी के प्रति ब्रह्मचारी के वेष में गये हुए श्री शंकर की उक्ति है। यहाँ पार्वती द्वारा अपने ही आभूषणों का त्याग और
शंकर की उक्ति है। यहाँ पार्वती द्वारा अपने ही आभूषणों का त्याग और
वल्कल वस्त्रों का ग्रहण है। इसमें दूसरे के साथ विनिमय न होने के कारण परिवृत्ति अलंकार नहीं किन्तु पर्याय अलंकार है। क्योंकि पार्वती रूप एक आधार में भूषण और वल्कल दोनों की स्थिति कही गयी है।

(५४) परिसंख्या अलंकार

जहाँ प्रश्नपूर्वक अथवा बिना ही प्रश्न के कुछ कहा जाय वह उसी के समान किसी वस्तु के निषेध करने के लिए हो वहाँ परिसंख्या अलंकार होता है।

परिसंख्या का अर्थ अन्यत्र वर्जन (निषेध) है। परिसख्या अलंकार में अन्य प्रमाणों से सिद्ध जो बात प्रश्न के पश्चात् बिना ही प्रश्न कही जाती है, वह—दूसरा कुछ प्रयोजन न होने के कारण उसी के समान किसी दूसरी बात के निषेध के लिये कही जाती है। निषेध कहीं तो प्रतीयमान (व्यंग्य) होता है और कहीं शब्द द्वारा स्पष्ट किया जाता है। अतः यह चार प्रकार का होता है—

१—प्रश्नपूर्वक प्रतीयमान (व्यंग्य) निषेध।
२—प्रश्नपूर्वक वाच्य (शब्द द्वारा) निषेध।
३—प्रश्न रहित प्रतीयमान निषेध।
४—प्रश्न रहित वाच्य निषेध।

प्रश्न-पूर्वक व्यंग्य-निषेध—

"क्या सेव्य ? सदा ? पद युगल नन्दनंदन के,
क्या ध्येय ? चरित्र पवित्र कन्सकन्दन के।

कर्त्तव्य ? सविधि उपचार जगत-वन्दन के,
श्रोतव्य ? चरित्र श्री सूत पार्थ स्यंदन के[1] ॥"

'सेव्य क्या है' आदि प्रश्नों के श्री 'नंदनंदन' आदि उत्तर दिये गये हैं। ये सब उत्तर अन्य प्रमाणों से सिद्ध हैं अतः ये उत्तर यहाँ 'विषय भोग सेवन करने के योग्य नहीं है, आदि निषेध करने के लिये हैं। यहाँ विषय भोग आदि का निषेध शब्द द्वारा नहीं किया है, अतः निषेध व्यंग्य से प्रतीत होता है।

प्रश्नपूर्वक वाच्य-निषेध—

'है भूषण क्या ? यश, नहीं रत्न आभूषण,
क्या कार्य ? आर्य-शुभ चरित, नहीं है दूषण,
क्या नेत्र ? विमल-मति, नहीं चक्षु-गोलक यह,
है मित्र कौन ? सद्धर्म, न नर लौकिक यह ॥'

'भूषन क्या है ?' आदि प्रश्न हैं। 'यश' आदि उत्तर हैं। वे उत्तर रत्न आदि के बने हुए भूषणों के निषेध के लिये कहे गये हैं। शब्दों द्वारा निषेध किया गया है अतः निषेध वाच्य है।

प्रश्न-रहित व्यंग्य-निषेध—

'इतनो ही स्वारथ बड़ो लहि नरतन जग माँहि,
भक्ति अनन्द गुबिन्द पद लखहिं चराचर ताहि ॥'

यहाँ श्रीगोविन्द के चरणों में एकान्त-भक्ति होना मनुष्य-जन्म का जो परम स्वार्थ कहा गया है उस विषय भोगादि को 'मनुष्य-जन्म का स्वार्थ न समझो' इस बात के निषेध करने के लिये कहा है। यहाँ शब्द द्वारा 'निषेध' नहीं, अतः व्यंग्य से ध्वनित होता है।

"कर्त्तव्य दीन-जन दुःखी हरण करन ही,
चातुर्य सदा हरि नाम-स्मरण करना ही।

---

१ पार्थ अर्थात् अर्जुन के स्यन्दन (रथ) के सूत (सारथी) भगवान् श्रीकृष्ण के।

है द्वैत सेव्य का सेवक हो रहना ही,

अद्वैत एक हरि-चरण-शरण गहना ही ॥"

दीन जनों का दुःख हरण करना मनुष्य के कर्त्तव्य आदि जो प्रश्न रहित यहाँ कहे गये हैं, वे अन्य कर्त्तव्य आदि के निषेध के लिये कहे गये हैं। निषेध व्यंग्य से ध्वनित होता है।

'सेवा में यदि साभिलाष, करता गोविन्द-सेवा न क्यों

चिन्ता में यदि है स्पृहा कर सदा श्री कृष्ण के ध्यान को,

जो तेरी रुचि गान में हरि कथा गाता न क्यों स्वस्थ हो,

सोना तू यदि चाहता, तब न क्यों प्यारे! समाधिस्थ हो।'

यहाँ विषयभोगादि का निषेध व्यंग्य से ध्वनित होता है।

प्रश्न-रहित वाच्य निषेध--

"आनान्दाश्रू बिन घन! जहाँ अन्य अश्रू कहीं न,

संयोगांती-स्मर-रुज बिना ताप है दूसरी न,

क्रीड़ा ही की कलह तज वे दूर होते हैं कभी न,

हैं यक्षों के वयस न कभी अन्य तारुण्य-हीन[१] ॥"

अलका के वर्णन में आनन्द के अश्रुपात आदि कहे गये हैं। शोक आदि के अन्य अश्रुओं का निषेध शब्द द्वारा कहा गया है अतः निषेध वाच्य है।

(५५) विकल्प अलंकार

तुल्य बल वाली परस्पर विरोधी वस्तुओं की जहाँ एक ही काल में एकत्र स्थिति में विरोध होता है वहाँ विकल्प अलंकार होता है।

---

१ अलका में यक्षों के केवल आनन्द-जनित अश्रुपात ही छूटते हैं--किसी दुःख के कारण नहीं, ताप भी उनको केवल काम-जनित होती है, जो अपने प्रेमपात्र के संयोग होने पर दूर हो जाती है--अन्य ताप नहीं, कलह भी वहाँ काम-क्रीड़ा में दम्पतियों के ही होता है--अन्य कारण से नहीं, उनकी अवस्था भी सर्वथा तरुण ही रहती है--वे वृद्ध कभी नहीं होते हैं।

विकल्प का अर्थ है 'यह या वह'। कहा है—"अनेत्रवान्येनवेति विकल्पः'। कौटिल्य अर्थशास्त्र। विकल्प अलंकार में तुल्य बल वालों की एकत्र स्थिति में विरोध होने के कारण सादृश्य-गर्भित विकल्प कहा जाता है अर्थात् 'यह या वह' इस प्रकार का वर्णन होता है।

'पांडु-व्यूह-वीरन प्रसिद्ध रनधीरन कों,
तीरन विदीरन कै धीरज छुटैहौं मैं
पारथ के शस्त्र औ अस्त्रन अकारथ करि,
सारथि हू तथा रथ हाँकन भुलैहौं मैं।
कीन्हीं हौं भीषम महाभीषम प्रतिज्ञा ताहि,
गांजि कहौं आज करि पूरन दिखैहौं मैं।
कै तो हरि-हाथन में सस्त्र पकरैहौं आजु,
कै लै कवौं पानि धनु-बान ना उठैहौं मैं॥"

यहाँ भीष्मजी की प्रतिज्ञा में श्रीकृष्ण को शस्त्र ग्रहण कराना और धनुष-बाण को फिर कभी न उठाना यह दोनों तुल्य बल हैं। यह दोनों बातें एक काल में नहीं हो सकतीं अतः विरोध है। क्योंकि श्रीकृष्ण के शस्त्र धारण कर लेने पर भीष्मजी द्वारा धनुष-बाण का त्याग सम्भव नहीं और भीष्मजी द्वारा धनुष-बाण का त्याग भी तभी सम्भव है जब श्रीकृष्ण द्वारा शस्त्रों का ग्रहण न किया जाय। इसलिये यहाँ चतुर्थ चरण में 'कै' के प्रयोग द्वारा विकल्प कहा गया है। भीष्मजी की प्रतिज्ञा के पूर्ण करने में श्रीकृष्ण का शस्त्र-धारण करना और भीष्मजी का धनुष-बाण न उठाना यह दोनों समान होने के कारण इन दोनों में सादृश्य गर्भित है।

"वीर अभिमन्यु ! मन्यु मन में न हूज्यौ मानि,
जानि अब रन कौं विधाता किमि पैहौं मैं।
पायौ पैठि संग हूँ न रंग-भूमि हूँ मैं अब,
जैहै तहाँ को तब जहाँ अब सिधै हौं मैं।
काल्हि चन्द्र-व्यूह पैठिवै के पहिलैंही तुम्हें,
हाल रन-भूमि को उताल पहुँचैहौं मैं।

कै तो तव विजय जयद्रथ सुनैहै जाय,
कै तो लै पराजय-प्रलाप आह ऐहौं मैं ॥"

मृत अभिमन्यु के प्रति अर्जुन की इस उक्ति में चतुर्थ पाद में विकल्प अलंकार है। जहाँ के सादृश्य चमत्कार के बिना केवल विकल्प होता है वहाँ अलंकार नहीं होता।

अलंकार का आशय और भारतीभूषण में विकल्प अलंकार—

"एती सुवास कहाँ अनतें बहकी इन भाँतिन की वरछै ह्वै,
आवत है वह रोज समीर लिये री सुगन्धन को जु दलैहै,
देख अली ! इन भाँतिन की अनि-भीरन और सु कौन न ह्वैहै,
कै उत फूलन को बन होइगौ, कै उन कुंजन राधिका ह्वैहै ॥"

यह उदाहरण दिया है। इसमें केवल विकल्प है—अलंकार नहीं विकल्प है। अलंकार वहीं होता जहाँ परस्पर विरोधी दो वस्तुओं की एकत्र स्थिति असम्भव होने पर विरोध होता है। इस पद्य में वायु के सुगन्धित करने और भृंगावली के होने में कारण राधिकाजी का वहाँ होना या फूलों से बाग का वहाँ होना समान बल मात्र है—इनकी एकत्र स्थिति असम्भव न होने के कारण विरोधी नहीं—दोनों के एकत्र होने पर भी वायु का सुगन्धित होना और भृंगावली का वहाँ होना सम्भव है।

(५६) समुच्चय अलंकार

किसी कार्य को करने के लिए एक साधक होते हुए साधकान्तर (दूसरा साधक) भी कथन हो वहाँ समुच्चय अलंकार होता है।

समुच्चय का अर्थ है एक साथ इकट्ठा होना। समुच्चय अलंकार में किसी कार्य को सिद्ध करने के लिये एक कर्त्ता के होते हुए दूसरे कर्त्ता अथवा कर्त्ताओं का अहमहमिकया अर्थात् परस्पर स्पर्द्धा युक्त होकर उस कार्य को सिद्ध करने के लिये इकट्ठा हो जाना कहा जाता है।

यह पूर्वोक्त विकल्प अलंकार के विपरीत है—विकल्प में समान बल

वालों की एक ही काल में एकत्र स्थिति का होना असम्भव है और समुच्चय में समान बल वालों की एक काल में एकत्र स्थिति होती है।

यह तीन प्रकार का होता है--

(१) सद्योग अर्थात् उत्तम साधकों का योग होना

(२) असद्योग, अर्थात् असत् साधकों का योग होना

(३) सद् असद् योग, अर्थात् सत् और असत् दोनों का योग होना।

सद्योग—

"रमारमण के चरण-कमल से जन्म तुम्हारा है रमणीय,
उमारमण के जटा-जूट में निवास भी आदरणीय,
पतितों के पावन करने का व्यसन एक ही है अ-समान,
भागीरथी ! क्यों न तेरा फिर हो त्रिभुवन उत्कर्ष महान॥"

श्री भगवत्चरण से उत्पत्ति, श्रीशिव के मस्तक का निवास और पतित-जनों के उद्धार करने का व्यसन, इनमें एक साधक से भी श्री गंगा का उत्कर्ष सिद्ध है, पर यहाँ से सारे साधक उसी उत्कर्ष के लिए स्पर्धा से इकट्ठे आ पड़े हैं अतः इनका समुच्चय है। यहाँ सब उत्तम साधक हैं!

"तात-वचन पुनि मातु-हित भाइ भरत अस राऊ,
मो कहँ दरस तुम्हार प्रभु! सब मम पुन्य प्रभाउ॥"

पिता दशरथ की आज्ञा, माता कैकेयी की इच्छा, भरत जैसे भाई को राज्य प्राप्ति और मुनिजनों के दर्शन इन चार में श्रीरामचन्द्रजी के बन जाने के लिये एक साधक ही पर्याप्त था; जिस पर यहाँ इन चारों का समुच्चय हो गया है।

असद्योग—

"धन, जोबन, बल अज्ञात मोह-मूल इक एक,
'दास' मिलै चारचौ जहाँ पैये कहाँ विवेक॥"

धन और यौवन आदि चारों में एक का होना ही उचित-अनुचित के

विचार न रहने के लिए पर्याप्त है जिस पर यहाँ इन चारों असतों का समुच्चय होना कहा गया है।

सद्असद्योग—

"दिन को दुत्ति-मन्द सु चन्द, सरोवर जो अरविंद विहीन लखावै,
गत जोवन की रमनी अरु जो रमनीय हु ह्वैन प्रवीनता पावै,
धनवान परायन ह्वै धन में जन-सज्जन जाहि दरिद्र दबावै,
खलराज-सभा-गत सातहु ये लखि कण्टक लौं हिय में चुभि जावै।।"

यहाँ द्युति-मन्द चन्द्र आदि सात कण्टकों का समुच्चय है। एक मत है कि इन सातों में चन्द्र आदि शोभन और मूर्ख आदि अशोभनों का सत् असत् योग है। किन्तु इस मत के अनुसार चन्द्र आदि का शोभन और मूर्ख आदि अशोभन का योग माना जाय तो सातों कण्टक नहीं कहे जा सकते। अतएव दूसरा मत यह है कि चन्द्र आदि स्वयं शोभन हैं और उनमें द्युतिमन्द आदि धर्म अशोभन होने के कारण सातों में प्रत्येक में शोभन और अशोभन का योग है। यही मत उचित है।

समुच्चय के इस भेद में और पूर्वोक्त 'सम' अलंकार में यह भिन्नता है कि 'सम' अलंकार के अनेक पदार्थों का यथायोग सम्बन्ध कहा जाता है। समुच्चय में किसी कार्य के करने के लिए समान-बल वाले अनेक पदार्थों का समुच्चय (इकट्ठा हो जाना) होता है।

द्वितीय समुच्चय

गुण या क्रिया अथवा गुण क्रिया दोनों एक ही काल में वर्णन किये जाने को द्वितीय समुच्चय कहते हैं।

अर्थात् एक से अधिक गुण (निर्मलता आदि) या एक से अधिक क्रियाओं का अथवा गुण और क्रिया दोनों का एक ही काल में एक साथ वर्णन होना।

गुण-समुच्चय—

"पावस के आवत भये स्याम-मलिन नभ-थान,
रक्त भये पथिकन हृदय पीत कपोल तियान।।"

यहाँ पावस के आगमन समय में—एक ही काल में—स्याम, रक्त आदि गुणों का समुच्चय है।

क्रिया समुच्चय—

'जब तैं कुँवर कान्ह ! रावरी कला निधान,
वाके कान परी कछु सुजस कहानी सी।
तब ही तैं 'देव' देखो देवता सी हँसति ही,
खीजत सी रीझत सी रूसत रिसानी सी।
छौही सी छली सी छीन लीनी सीछ की सी छीन'
जकी सी टकी सी लागी थकी फहरानी सी!
बिधी सी बधी सी विष-बूड़त विमोहत सी।
बैठी वाल बकत बिलोकत विकानी सी।।'

यहाँ रीझत, खीजत आदि अनेक क्रियाओं का समुच्चय है।

यद्यपि कारकदीपक में भी बहुत सी क्रियाओं का कथन होता है। किन्तु कारकदीपक में एक के बाद दूसरी क्रियाएँ क्रमशः होती हैं और समुच्चय में सब क्रियाएँ एक ही साथ होती हैं।

गुण और क्रिया समुच्चय—

'सित पंकज-दल छबि मयी कोप भरे तुव नैन,
सत्रु-दलन पर परतु हैं और कलुष दुख दैन।।"

यहाँ 'कलषु' गुण और 'परतु' क्रिया का एक साथ कथन होने से गुण और क्रिया का समुच्चय है।

(५७) समाधि अलंकार

आकस्मिक कारणान्तर के योग से कर्त्ता को कार्य को अनायास सिद्धि होने को समाधि अलंकार कहते हैं।

समाधि का अर्थ है सुखपूर्वक किया जाना—'सम्यक् आधिः आधानं (उत्पादनं) समाधिः।'—काव्य प्रकाश, वालबोधिनी पृ० ८७२। समाधि

अलंकार में काकतालीय न्याय के अनुसार अकस्मात् दूसरे कारण या अन्य कर्त्ता की सहायता से प्रधान कर्त्ता द्वारा आरम्भ किया गया कार्य सुखपूर्वक —अनायास सिद्ध हो जाना कहा जाता है।

पूर्वोक्त समुच्चय अलंकार में एक कर्ता के होते हुए अन्य कर्ता परस्पर स्पर्धा से इकट्ठे हो जाते हैं और समाधि अलंकार में योग्यता प्राप्त एक ही साधक होता है अन्य साधक अचानक सहायक हो जाता है।

आचार्य दण्डी ने और महाराज भोज ने इसका समाहित नाम लिखा है।

उदाहरण—

"मान मिटावन हित लगे विनय करन घनस्याम,
तौलौं चहुँ दिसि उमड़ि के नभ छाये घनस्याम॥"

राधिकाजी का मान दूर करने की चेष्टा घनश्याम—श्री कृष्ण कर ही रहे थे उसी समय आकाश में अकस्मात् कामोद्दीपक मेघ घटा के हो आने पर मान का सुखपूर्वक छूट जाना कहा गया है।

यह उदाहरण दैवकृत आकस्मिक कारण का है। कहीं दैवकृत आकस्मिक कारण के बिना भी समाधि अलंकार होता है। जैसे—

"जुगपानिप पूरन पीन पयोधर कंचन कुम्भ विभूषित हैं,
दृग चंचल कंज विलोकन मंजुल वन्दनवार तनी जित हैं,
स्मित फूलन की बरषा बरसै पिय आगम हेत प्रमोदित है,
रमनी-तन की छबि सौं सहजैं भये मंगल साज सुसोभित हैं॥"

विदेश से आते हुए अपने पति के सन्मुख दो घट, वन्दनवार और पुष्प की वर्षा आदि मंगल कार्य नायिका के अंगों द्वारा स्वयं सिद्ध हो जाने में दैवकृत कारणान्तर नहीं, किन्तु नायिका की अंग शोभा द्वारा हुआ है।

---

१ कौए के ताल वृक्ष पर बैठने से ताल के फल का अचानक पृथ्वी पर गिर जाने जैसी अचानक घटना को काकतालीय न्याय कहते हैं।

(५८) प्रत्यनीय अलंकार

साक्षात् शत्रु के जीतने में असमर्थ होने के कारण शत्रु के सम्बन्धी के तिरस्कार किये जाने को प्रत्यनीक अलंकार कहते हैं।

'प्रत्यनीक' शब्द 'प्रति' और 'अनीक' से बना है। 'प्रति' का अर्थ यहाँ प्रतिनिधि है—'प्रति प्रतिनिधौ वीप्सालक्षणादौ प्रयोगतः।' अमरकोश। और 'अनीक' का अर्थ है सैन्य—'अनीकोऽस्त्रीरणेसैन्ये।'—मेदिनी कोश। अतः प्रत्यनीक आ अर्थ है सैन्य का प्रतिनिधि। यहाँ सैन्य का अर्थ लक्षणा द्वारा 'शत्रु' ग्रहण किया गया है अर्थात् शत्रु का प्रतिनिधि। प्रत्यनीक अलंकार में लक्षण के अनुसार शत्रु के प्रतिनिधि अर्थात् सम्बन्धी का तिरस्कार किया जाता है। प्रत्यनीक में शत्रु के सम्बन्धी दो प्रकार के होते हैं—

साक्षात् सम्बन्धी—अर्थात् शत्रु के साथ साक्षात् सम्बन्ध रखने वाले का तिरस्कार किया जाना।

परम्परागत सम्बन्धी—अर्थात् शत्रु के सम्बन्धी के साथ सम्बन्ध रखने वाले का तिरस्कार किया जाना।

साक्षात् सम्बन्धी का तिरस्कार—

"अपने रम्य रूप से तुमने विगलित दर्प किया कंदर्प,
रहती है अनुरक्त तुम्हीं में वह रमणी रमणीय स-दर्प
कुसुमायुध निज सुमन शरों से सज्जित कर पुष्पों का चाप,
चलता है वश नहीं आप पर अतः दे रहा उसको ताप॥"

नायक के प्रति दूती के वाक्य है। अपने से अधिक सौन्दर्यशाली नायक को जीतने में असमर्थ होकर कामदेव द्वारा उस (नायक) में अनुरक्त रहने वाली नायिका को संतप्त किया जाना कहा गया है। यहाँ नायक के साथ नायिका का साक्षात् सम्बन्ध है।

"जहर-सलाह अरु लाखा-गृह-दाह अरु,
द्रोपदी की आह सों कराह जिय जार्यो तैं[1]।
छहौं फिर फेर पुत जेर कर मार्यो हेर[2]
बीन[3] सब बैर दाब बिहद विचार्यो तैं।
मूल-ग्रन्थ धार्यो कै स-टीक ग्रंथ धार्यो धीर।
प्रत्यनीकालंकृति कौं प्रकट पसारयो तैं।
भीम-पन स्मार्यो कुरु-भूप को न मार्यो वाकौं।
प्रान-प्रिय मार्यो रन करन पछार्यो तैं॥"

यह अर्जुन के प्रति श्रीकृष्ण के वाक्य हैं। दुर्योधन की जंघा बिदीर्ण करने की भीमसेन की प्रतिज्ञा के कारण दुर्योधन को मारने में असमर्थ अर्जुन द्वारा दुर्योधन के परम-प्रिय कर्ण को बध किया जाना कहा गया है। दुर्योधन के साथ कर्ण का साक्षात् सम्बन्ध है।

परंपरागत सम्बन्धी का तिरस्कार--

"तो मुख-छवि सौं हारि जग भयो कलंक समेत,
सरद-इन्दु अरविंद मुख ! अरविंदनि दुख देत॥"

कंजमुख नायिका की मुख-कान्ति द्वारा पराजित चन्द्रमा द्वारा मुख के साथ सादृश्य सम्बन्ध रखने वाले कमलों को दुख दिया जाना कहा गया है।

यद्यपि 'प्रत्यनीक' सभी ग्रन्थों में स्वतन्त्र अलंकार माना गया है, पर इसके साथ हेतूत्प्रेक्षा अवश्य लगी रहती है, प्रत्यनीक में और हेतूत्प्रेक्षा में यही भेद माना गया है कि प्रत्यनीक में शत्रु के सम्बन्धी का तिरस्कार किये जाने का चमत्कार विशेष है, किन्तु पण्डितराज इसे हेतूत्प्रेक्षा के अन्तर्गत ही मानते हैं।

---

१ तूने अपना हृदय जलाया। २ देखकर। ३ चुनचुन कर।

(५६) काव्यार्थापत्ति अलंकार

दण्डापूपिका न्याय के अनुसार किसी कार्य की सिद्धि के वर्णन को काव्यार्थापत्ति अलंकार कहते हैं।

आपत्ति का अर्थ है आ पड़ना। अर्थापत्ति का अर्थ है अर्थ का आ पड़ना। इस अलंकार में किसी एक अर्थ की सिद्धि के सामर्थ्य से दूसरे अर्थ की सिद्धि स्वयं आ पड़ती है—हो जाती है। जैसे 'मूसा दण्ड को खा गया' ऐसा कहने पर दण्ड से चिपके हुए मालपूओं का मूसे द्वारा खाया जाना स्वतः सिद्ध हो जाता है, दण्डपूपिका न्याय इसी को कहते हैं। उसी प्रकार यहाँ 'जिसके द्वारा कोई कठिन कार्य सिद्ध हो सकता है उसके द्वारा सुगम कार्य सिद्ध होना क्या कठिन है ऐसा वर्णन किया जाता है।

उदाहरण—

'सुत मिस लै हरि नाम जपि कटी अजामिल पास,
जो सुमरत श्रद्धा सहित उनहिं कहाँ भव त्रास॥'

पुत्र के नाम कहने मात्र से यम की पाश कटना कठिन कार्य है। यहाँ "अपने पुत्र 'नारायण' के नाम कहने मात्र से अजामिल की यम-पाश कट गई" इस कथन के सामर्थ्य से जो श्रद्धायुक्त श्री हरिनाम कीर्त्तन करते हैं उनका संसार-ताप नष्ट होना स्वतः सिद्ध कहा गया है।

"प्रभुते भाई को पकड़ हृदय पर खींचा,
रोदन-जल से स-विनोद उन्हें फिर सींचा,
उसके आशय की थाह मिलेगी किसको?
जनकर जननी भी जान न पाई जिसको॥"

यहाँ 'भरत जी के आशय को जब जन्म देनेवाली उनकी माता भी न जान सकी' इस कथन के सामर्थ्य से 'उस भरत के आशय को दूसरा कौन जान सकता है, यह बात स्वयं सिद्ध होना कहा गया है।

(६०) काव्यलिंग अलंकार

जहाँ कारण की वाक्यार्थता और पदार्थता होती है वहाँ 'काव्यलिंग' अलंकार होता है।

'काव्यलिंग' में 'काव्य' और 'लिंग' दो शब्द हैं। 'काव्य' शब्द का प्रयोग यहाँ तर्कशास्त्र में माने हुए 'लिंग' से पृथकता करने के लिये किया गया है। 'लिंग' शब्द का अर्थ है हेतु अर्थात् कारण। काव्यलिंग अलंकार में जिस बात को सिद्ध करना सापेक्ष होता है उसको सिद्ध करने के लिये उसका कारण वाक्य के अर्थ में अथवा पद के अर्थ में कहा जाता है। काव्यलिंग में सामान्य-विशेष भाव नहीं होता है, अर्थान्तरन्यास में सामान्य-विशेष भाव रहता है, इन दोनों में यही भेद है। अत: इसके दो भेद हैं।

(१) वाक्यार्थता अर्थात् सारे वाक्य के अर्थ में कारण कहा जाना

(२) पदार्थता अर्थात् एक पद के अर्थ में कारण कहा जाना।

वाक्यार्थता का उदाहरण--

"सब तीरथ चित्त ! लजावतु हैं रु सकावतु जाहि उधारन को,
कर कानन लावतु हैं सब देव घिनावतु नैंक निहारन कों,
करुना करिगंग ! उमंग भरी हो अहो ! अब मोहि उधारन कों,
तुम गर्व विदारन हो करती सबको, अघ-ओघ निवारन कों॥"

यहाँ चौथे पद में श्रीगंगाजी को 'सारे तीर्थ और देवताओं का गर्व विदीर्ण करने वाली' कहा गया है, इस बात को सिद्ध करने के लिये इसका कारण पहिले के तीनों पदों के सारे वाक्यार्थ में कहा गया है। अर्थात् इस कथन से गर्व-हरण करने के कथन की सिद्धि की गयी है।

"कनक[1] कनक[2] तें सौगुनी मादकता अधिकाय,
वह खाये बौरात है यह पाये बौराय॥"

---

१ सुवर्ण। २ धतूरा।

धतूरे से सोने को सौगुना अधिक कहने का कारण उत्तरार्द्ध के वाक्यार्थ में कहकर इस कथन को सिद्ध किया है।

"अब रहीम मुसकिल पड़ी गाढ़े दोऊ काम,
साँचे से तो जग नहीं झूठे मिलै न राम॥"

यहाँ पूर्वोक्त के वर्णन का उत्तरार्द्ध के वाक्यार्थ में कारण कहा गया है।

पदार्थता का उदाहरण—

"जिन उपाय औरैं करैं यहै राखै निरधार,
हिय वियोग-तम टारिहैं बिधु-वदनी यह नारि॥"

यहाँ वियोग रूप तम को दूर करने का कारण विधु-वदनी (चन्द्रमुखी) एक इस पद के अर्थ में कहा गया है।

'परिकर' और काव्यलिंग का पृथक्करण—

पूर्वोक्त परिकर अलंकार में पदार्थ या वाक्यार्थ के बल से जो अर्थ प्रतीत होता है वही वाच्यार्थ को पोषित करता है जैसे —

"कलाधर द्विजराज तुम ताप-हरन विख्यात,
क्रूर-करन सों दहत क्यों मो अबला के गात॥"

यहाँ (परिकर में) चन्द्रमा के 'कलाधर' आदि विशेषण हैं, इनके अर्थ में जो महत्व प्रतीत होता है वही विरहिणी के उपालम्भ रूप वाच्यार्थ को समर्थन करता है, केवल कलाधर आदि शब्द नहीं। पर काव्यलिंग में साक्षात् पदार्थ या वाक्यार्थ ही कारण भाव को प्राप्त होते हैं—जैसे— "हिय वियोग-तम टारिहै विधुवदनी यह नारि" में "विधुवदनी" पद ही वियोग रूपी तम को दूर करने में कारण है—इसमें किसी दूसरे अर्थ की प्रतीति की आकांक्षा नहीं रहती है।

(६१) अर्थान्तरन्यास अलंकार

सामान्य का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से साधर्म्य अथवा वैधर्म्य से समर्थन किये जाने को 'अर्थान्तरन्यास' कहते हैं।

अर्थान्तरन्यास का अर्थ है अर्थान्तर (अन्य अर्थ) का न्यास अर्थात् रखना। अर्थान्तरन्यास अलंकार में एक अर्थ (सामान्य या विशेषण) के समर्थन करने के लिये अन्य अर्थ (विशेषण या सामान्य) रक्खा जाता है। अर्थात् सामान्य वृत्तान्त का विशेष वृत्तान्त द्वारा और विशेष का सामान्य द्वारा समर्थन किया जाता है। सामान्य और विशेष में प्रायः एक प्रकृत और दूसरा अप्रकृत होता है।[1] यह चार प्रकार का होता है।

(१) विशेष से सामान्य का साधर्म्य से समर्थन।

(२) सामान्य से विशेष का साधर्म्य से समर्थन ?

(३) विशेष से सामान्य का वैधर्म्य से समर्थन।

(४) सामान्य मे विशेष का वैधर्म्य से समर्थन।

विशेष से सामान्य का साधर्म्य से समर्थन--

"लागत जिन-मन दोप तें सुन्दर हू विपरीत,
पित्त-रोग-वस लखत नर स्वेत संखहू पीत॥"

'अपने चित्त के दोष से सुन्दर वस्तु भी बुरी लगती है' इस सामान्य बात का यहाँ पित्त-रोग (पाण्डुरोग) वाले को सफेद शंख भी पीला दिखाई देता है' इस विशेष अर्थ के कथन द्वारा समर्थन किया गया है। यहाँ पूर्वार्द्ध में 'लागत' और उत्तरार्द्ध में 'लखत' यह दोनों क्रियाएँ साधर्म्य से कही गयी हैं।

"बड़े न हूजे गुननि बिनु विरद बड़ाई पाय,
कहत धतूरे सों कनक गहनो गढ्यो न जाय॥"

---

[1] सब लोगों से साधारणतः सम्बन्ध रखनेवाली बात को सामान्य और किसी विशेष (खास) एक व्यक्ति से सम्बन्ध रखनेवाली बात को विशेष कहते हैं।

विरद की बड़ाई पाकर अर्थात् केवल नाम बड़ा होने से गुण के बिना बड़ा नहीं हो सकता, इस सामान्य बात का यहाँ धतूरे के विशेष वृत्तान्त द्वारा समर्थन किया गया है। यहाँ पूर्वार्द्ध में 'केवल नाममात्र से बड़े न होना' और उत्तरार्द्ध के 'गहना न गढ़ा जाना' इन वाक्यों में निषेधात्मक क्रियाओं का साधर्म्य है।

सामान्य से विशेष का साधर्म्य से समर्थन--

"पाके वायू यदि घन ! वहाँ देवदारू घिसावें–
हो दावाग्नि ज्वलित चमरी-चमारों को जलावें–
तो उस्की तू बरस,करना ताप-निःशेष क्योंकि–
दीनों ही के दुख-दमन को सम्पदा सज्जनों की ॥"

मेघदूत में मेघ को यक्ष ने यह कहकर कि "हिमालय में वायुवेग से परस्पर रगड़ते हुए देवदारू के वृक्षों से उत्पन्न होनेवाली दावाग्नि—जो चमरी गउओं की पूंछ को चलाती है, उसे तू शमन करना" फिर इस विशेष बात का चौथे चरण की सामान्य बात द्वारा समर्थन किया ह।

"अधम पतित अति नीच जनों का अहो आप करना उद्धार—
छोड़ नहीं सकती हो गंगे ! जिस प्रकार करुणा चित्त धार,
उसी प्रकार मुझे भी रहता अघ-ओघों से प्रेम अपार,
हो सकता क्या जननि ! किसी में निज स्वभाव का है परिहार॥"

यहाँ प्रथम के तीन पदों में श्रीगंगाजी के स्वाभाविक कार्यों की और वक्ता ने अपने स्वाभाविक कार्य की जो विशेष बात कही है, उसका चौथे पाद में सामान्य बात द्वारा समर्थन किया है।

"भ्रमरी ! इस मोहन मानस के बस मादक हैं रस भाव सभी,
मधु पीकर और मदांध न हो, उड़ जा बस है अब क्षेम तभी,
पड़ जाय न पंकज-बन्धन में निशी यद्यपि है कुछ दूर अभी,
दिन देख नहीं सकते स-विशेष किसी जन का सुखभोग कभी।"

यहाँ भ्रमरी के विशेष वृत्तान्त का चतुर्थ पाद के सामान्य वृत्तान्त द्वारा समर्थन किया गया है। उदाहरण अर्थान्तरन्यास के साथ अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार मिश्रित है।

विशेष से सामान्य का वैधर्म्य से समर्थन--

"भगवान यदि रक्षक रहें रक्षा बनी रहती तभी,
अन्य कोई भी किसे क्या है बचा सकता कभी ?
मृत्यु-मुख जाता पहुँच घर में सुरक्षित भी न क्या ।।
किन्तु रहता है बचा रण में अरक्षित भी न क्या ।।"

यहाँ पूर्वार्द्ध के सामान्य कथन का उत्तरार्द्ध के विशेष कथन द्वारा वैधर्म्य से समर्थन किया गया है ! 'सुरक्षित' के साथ 'अरक्षित' का वैधर्म्य है।

सामान्य द्वारा विशेष का वैधर्म्य से समर्थन--

"वारिधि तात हुतो विधि सों सुत आदित-सोम सहोदर दोऊ,
रंभ रमा भगिनी जिनके मघवा मधुसूदन से बहनोऊ,
तुच्छ तुषार परैं नहिं होय इतो परिवार सहाय न सोऊ,
टूटि सरोज गिरैं जल में सुख संपति में सब कै सब कोऊ।"

यहाँ कमल के विशेष वृत्तान्त का चौथे पाद में 'सुख सम्पत्ति में सब कै सब कोऊ' इस सामान्य कथन के द्वारा वैधर्म्य से समर्थन किया है।

श्लेष मिश्रित अर्थान्तरन्यास बहुत मनोरंजक होता है—

"मलयानिल यह मधुर सुगंधित आ रहा,
सभी जनों के हृदय प्रीति उपजा रहा,
दाक्षिण्य से सम्पन्न जाते हैं वहीं,
होते हैं वे प्रेम पात्र सर्वत्र ही।।"

यहाँ 'दाक्षिण्य शब्द श्लिष्ट है—इसके गुणवान (चतुर व्यक्ति) और दक्षिण दिशा से सम्बन्ध रखनेवाला—यह दो अर्थ हैं।

अर्थान्तरन्यास और काव्यलिंग प्रकरण—

विश्वनाथ का मत है[1] कि हेतु[2] (कारण) तीन प्रकार का होता है। ज्ञापक, निष्पादक और समर्थक। जहाँ ज्ञापक-हेतु होता है वहाँ अनुमान अलंकार होता है। जहाँ समर्थक हेतु होता है वहाँ अर्थान्तरन्यास और जहाँ निष्पादक हेतु होता है वहाँ काव्यलिंग होता है। जैसे काव्यलिंग के पूर्वोक्त—'कनक कनक ते सौगुनी.................. (पृष्ठ १९६) इस उदाहरण में धतूरे को सुवर्ण से अधिक मादक होने की बात सिद्ध नहीं हो सकती है जब तक कि इसका कारण नहीं कहा जाता, अतः इस वाक्यार्थ को सिद्ध करने की अपेक्षा रहती है इसलिए यह कहकर कि 'धतूरे को तो खाने से विक्षिप्त होता है पर सुवर्ण के प्राप्त होने मात्र से प्रमत्त हो जाता है' सिद्ध की गयी है अतः यहाँ पूर्वार्द्ध के वाक्यार्थ का उत्तरार्द्ध का वाक्यार्थ निष्पादक-हेतु है। और अर्थान्तरन्यास में वाक्यार्थ निराकांक्ष रहता है।—वाक्यार्थ को सिद्ध करने की अपेक्षा नहीं रहती। जैसे-'पाके वायू-.....' (पृष्ठ १९८) में दावाग्नि को शमन करने का जो उपदेश है वह स्वयं सिद्ध है उसको सिद्ध करने के लिये कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। वहाँ जो—'दीनों ही के दुख-दमन को सम्पदा उत्तमों की' कहा गया है वह उस उपदेश वाक्य को युक्तियुक्त बनाने के लिये केवल समर्थन है। किन्तु पण्डितराज आदि कार्य कारण-सम्बन्ध द्वारा समर्थन में काव्यलिंग ही मानते हैं, न कि अर्थान्तरन्यास।

---

१ देखिए साहित्यदर्पण काव्यलिंग प्रकरण।

२ वास्तव में हेतु दो प्रकार का होता है—ज्ञापक और कारक। ज्ञापक हेतु किसी वस्तु का ज्ञान करता है जैसे धूंआ, अग्नि का ज्ञान करता है—धूंआ ज्ञापक-हेतु है। और कार्य को उत्पन्न करने वाला कारक-हेतु होता जैसे 'अग्नि' धूंआ का उत्पादक है अतः अग्नि कारक-हेतु है। विश्वनाथ ने कारक-हेतु को ही दो भेदों में विभक्त करके निष्पादक (सिद्ध करने वाला) समर्थक (समर्थन करने वाला) दो भेद बतलाये हैं।

दृष्टान्त और उदाहरण अलंकार से अर्थान्तरन्यास का पृथक्करण—

'दृष्टान्त में समर्थ्य और समर्थक दोनों सामान्य या दोनों विशेष होते हैं। और वहाँ सामान्य से एवं विशेष का विशेष से समर्थन होने में समर्थ्य-समर्थक भाव प्रधान न रहकर बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव प्रधान रहता है। किन्तु अर्थान्तरन्यास में समर्थ्य-समर्थक दोनों में एक सामान्य और दूसरा विशेष होता है। अर्थात् सामान्य का विशेष से या विशेष का सामान्य से समर्थन होता है और समर्थ्य-समर्थक भाव प्रधान रहता है।

उदाहरण अलंकार में 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग होता है और अर्थान्तरन्यास में 'इव' आदि का प्रयोग नहीं होता।

(६२) विकस्वर अलङ्कार

विशेष का सामान्य से समर्थन करके फिर (सामान्य) का विशेष द्वारा समर्थन किये जाने को विकस्वर अलंकार कहते हैं।

'विकस्वर' का अर्थ है विकास वाला[1]। विकास का अर्थ है स्फुट[2]। विकस्वर अलंकार में किसी विशेष अर्थ का सामान्य अर्थ से किया गया समर्थन सन्तोषप्रद न मानकर फिर उसको स्फुट करने के लिये (भले प्रकार स्पष्ट करने के लिये) दूसरे विशेष का—उपमा द्वारा या अर्थान्तरन्यास की रीति से—समर्थन किया जाता है।

उपमा द्वारा—

"रत्न-जनक हिमवान के कहियत हिम न कलंक,
छिपत गुणन में दोष इक ज्यों ससि-करन ससंक।"

'बहुत से रत्नों को उत्पन्न करने वाले हिमाचल के हिम (बर्फ)का होना कलंक नहीं कहा जा सकता' इस विशेष अर्थ का यहाँ 'बहुत गुणों में

---

१ देखिए अमरकोष की भरत टीका।
२ 'विकासो विजनेस्फुटे'—विजय कोष शब्दकल्पद्रुम।

एक दोष छिप जाता है' इस सामान्य से समर्थन किया गया है फिर जैसे चन्द्रमा की किरणों के प्रकाश में शश का चिह्न, इस विशेष वृत्तान्त की उपमा द्वारा समर्थन किया गया है।

"कौरव-दल पांडव सगर-सुत जादौ जेते
जात हू न जाने ज्यों तरैया परभातकी।
बली, बेन, अंबरीष, मानधाता, प्रह्लाद
कहिये कहाँ लौं कथा रावन जजाति की।
वेहू न बचन पाये काल-कौतुकी के हाथ
भाँति-भाँति सेना रची घने दुख घात की।
चार-चार दिन को चबाव सब कोऊ करो,
अंत लुटि जैहैं जैसे पूतरी[1] बरात की॥"

यहाँ 'कौरव आदि भी काल के हाथ से नहीं बच सके' इस विशेष वृत्तान्त का 'चार दिन को चबाव सब कोऊ करो' इस सामान्य वृत्तान्त में समर्थन करके फिर इस सामान्य वृत्तान्त का 'लुटि जैहैं जैसे पूतरी बरात को' इस विशेष वृत्तान्त की उपमा द्वारा समर्थन किया गया है।

अर्थान्तरन्यास रीति से—

"काक ! कर्ण-कटु शब्द रहित तू बैठा रह स्वच्छन्द अभी—
आम्रलता-मकरंद पान कर, पिक समझेंगे तुझे सभी,
स्थल-प्रभाव से सभी वस्तु क्या धन्य नहीं हो जाती हैं,
नृप-ललाट पर पंक-विन्दु मृगमद ही जानी जाती हैं॥"

यहाँ काक के विशेष वृत्तान्त का 'स्थान की महिमा से सभी वस्तु धन्य हो जाती है' इस सामान्य वृत्तान्त द्वारा समर्थन करके इसका 'राजा के मस्तक पर कीचड़ का बिन्दु भी कस्तूरी ही समझी जाती है' इस विशेष वृत्तान्त द्वारा अर्थान्तरन्यास की रीति से समर्थन किया गया है।

---

१ बरात की फुलवाड़ी में जो कागज की पुतली बनी हुई होती है।

वस्तुतः विकस्वर अलंकार अर्थान्तरन्यास और उदाहरण अलंकार के अन्तर्गत ही हैं।

(६३) प्रौढोक्ति अलङ्कार

उत्कर्ष का जो कारण न हो उसे कारण कल्पना किये जाने को प्रौढोक्ति अलंकार कहते हैं।

'प्रौढोक्ति' में प्रौढ़ उक्ति होती है। प्रौढ़ का अर्थ है प्रवृद्ध[1] अर्थात् बढ़ा हुआ है ? प्रौढोक्ति अलंकार में बढ़ाकर कहने के लिये उत्कर्ष का जो कारण न हो उसको उत्कर्ष का कारण कहा जाता है।

"केसर क्यारी बिच लागी चंपक सी दुति गात।"

केसर के बाग में होना चंपा के पुष्प के उत्कर्ष का कारण नहीं है किन्तु वहाँ उत्कर्ष का कारण कल्पना किया गया है।

"विमल-नीर-जलजात[2] जमुना-तीर-तमाल[3] सम,
दूति राधा हरि-गात-सुमिरत-भव-बाधा मिटहि॥"

जल का निर्मल होना कमल की मनोहरता के उत्कर्ष का कारण नहीं है—जहाँ निर्मल जल नहीं होता है वहाँ भी वैसे सुन्दर ही कमल उत्पन्न होते हैं जैसे सर्वत्र निर्मल जल में होते हैं। और न तमाल वृक्ष की श्यामलता के उत्कर्ष का कारण यमुना तट ही है किन्तु यहाँ इनको उत्कर्ष के कारण कल्पना किये गये हैं। रसगंगाधर और कुवलयानन्द में 'प्रौढोक्ति' को स्वतन्त्र अलंकार माना गया है, किन्तु उद्योतकार का कहना है कि यह सम्बन्धातिशयोक्ति के अन्तर्गत है।

---

१ देखिए अमरकोष। २ निर्मल जल में होने वाले कमल। ३ जमुना के तट पर उत्पन्न श्याम रंग का जाति का वृक्ष।

(६४) मिथ्याध्यवसिति अलङ्कार

किसी बात का मिथ्यात्व[१] सिद्ध करने के लिये कोई दूसरा मिथ्या अर्थ कल्पना किये जाने को 'मिथ्याध्यवसिति' अलंकार कहते हैं।

मिथ्याध्यवसिति में मिथ्या और अध्यवसिति दो शब्द हैं। मिथ्या का अर्थ है झूठ और अध्यवसिति का अर्थ है निश्चय अर्थात् मिथ्यात्व का निश्चय। इस अलंकार में लक्षणानुसार मिथ्यात्व सिद्ध किया जाता है।

"सस सींगन के धनु लिये गगन-कुसुम[२] धरि माल,
खेलत बंध्या-सुतन संग तव अरि-गन क्षितिपाल ! ॥"

राजा के शत्रु होने को झूठा सिद्ध करने के लिए यहाँ 'खरगोश के सींग होना' आदि असत्य कल्पनाएँ की गयी हैं।

'उद्योत' कार का कहना है कि यह अलंकार असम्बन्ध में सम्बन्ध वाली अतिशयोक्ति के अन्तर्गत है। दूसरा मत यह है कि इसमें मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिये दूसरा मिथ्यार्थ कल्पना किया जाना नवीन चमत्कार है। पण्डितराज ने इसे 'प्रौढोक्ति' के हो अन्तर्गत माना है।

(६५) ललित अलङ्कार

प्रस्तुत धर्मी[३] को वर्णनीय वृत्तान्त के प्रतिबिम्ब वर्णन किये जाने को ललित अलंकार कहते हैं।

'ललित' का अर्थ इच्छित (ईप्सित) भी है—'ललितः ईप्सितः'—मेदिनी कोश। ललित अलंकार में इच्छित अर्थात् वर्णनीय वृत्तान्त का प्रतिबिम्ब कहा जाता है।

"सेतु बाँधिवो चहतु है तू अव उतरै वारि॥"

---

१ झूठापन। २ आकाश-पुष्प। ३ जिसके समक्ष में कहा जाय उस व्यक्ति को।

प्रमाद में धन खोकर निधन हो जाने पर धन रक्षा का उपाय पूछने-वाले व्यक्ति के प्रति किसी सज्जन का यह कथन है। धन न रहने पर धन की रक्षा के प्रश्न का उत्तर, प्रस्तुत—प्राकरणिक तो यह है कि 'अब उपाय पूछना व्यर्थ है, किन्तु इस प्रकार न कह कर उसका प्रतिबन्ध 'तू जल नहीं रहने पर अब पुल बाँधना चाहता है' यह कहा है।

"और कहा नहिं सुन्दरी भुवि सीता हि अनूप,
ऐंचत चन्दन-साख को तुम छेड्यो फनि-भूप॥"

रावन के प्रति मन्दोदरी का कहना तो यह था कि 'श्रीजानकीजी के हरण से तुमने श्रीरामचन्द्रजी को कुपित करके बड़ा अनिष्ट किया है।' यह न कह कर उसका 'चन्दन की शाखा को खेंचते हुए तुम सर्पराज को छेड़ बैठे' यह प्रतिविम्ब कहा है।

(६६) प्रहर्षण अलङ्कार

प्रहर्षण का अर्थ है प्रकृष्ट हर्षण अर्थात् अत्यन्त हर्ष। प्रहर्षण अलंकार में अत्यन्त हर्षकारक पदार्थ की प्राप्ति का वर्णन होता है। इसके तीन भेद हैं।

प्रथम प्रहर्षण

उत्कण्ठित[1] पदार्थ की बिना यत्न के सिद्धि होने के वर्णन को प्रथम प्रहर्षण अलंकार कहते हैं।

"हेरिबे हेत विहंग के मानस ब्रह्म सरूपहि में अनुरागे,
भाय भरथ्य सो भेट्यो नहीं पुलके तन यों 'लछिराम' सुभागे,
मंजु मनोरथ फैलि फल्यो पर आने सबै तप पूरन पागे,
मोंज मड़े उमड़े करुना खड़े श्रीरघुनाथ जटायु के आगे॥"

जटायु अपने मन में ब्रह्म को अनुभव करने की इच्छा करता ही था

---

१ जिस पदार्थ में सब इन्द्रियों का सुख माना जाता है उसकी प्राप्ति के लिए उत्कट इच्छा की जाती है उसको उत्कण्ठा कहते हैं।

इतने में श्रीरघुनाथजी के आ जाने पर उसको विना यत्न उत्कण्ठित अर्थ—ब्रह्म-दर्शन की सिद्धि प्राप्त होना कहा गया है।

"भादों की कारी अँध्यारी निसा झुकि बादरमंद फुही बरसावैं,
स्यामाजू आपनी ऊँची अटा पै छकी रसरीति मलारहि गावैं,
ता समैं मोहन के दृग दूर में आतुर रूप की भीख यों पावैं,
पौन मया करि घूंघट टारै दया करि दामिनि दीप दिखावैं।।"

श्रीवृषभानुनन्दिनी के दर्शन का उत्कण्ठित लाभ विना ही यत्न के यहाँ श्रीकृष्ण को होना वर्णन है।

द्वितीय प्रहर्षण

वांछित अर्थ की अपेक्षा अधिकतर लाभ होने के वर्णन को द्वितीय प्रहर्षण अलंकार कहते हैं।

अर्थात् अपनी इच्छा की हुई वस्तु की प्राप्ति के लिए यत्न करते हुए उस इच्छा से भी अधिक लाभ होना।

"फिरत लोभ कोडीन के छाछ बेचिबे काम।
गोप-ललिन पायो गलिन महा इंद्रमनि स्याम।।"

ब्रजाङ्गनाओं को छाछ बेचकर कौड़ियों के लाभ का उद्यम करते हुए महेन्द्र नीलमणि (अर्थात् श्रीकृष्ण) के मिलने रूप अधिक लाभ होना वर्णन है।

"मांगता दो चार जल की बूंद है,
ग्रीष्म में चातक विकल होके महा,
जलद सब जल-पूर्ण कर देता धरा,
बस, प्रहर्षण दूसरा हुआ यहाँ।।"

दो-चार जल के कणों की इच्छा करने वाले चातक को यहाँ मेघ द्वारा सारी पृथ्वी को जलपूर्ण करने का अधिक लाभ होना वर्णन है। इस पद्य में अर्थान्तिरन्यास भी मिश्रित है।

तृतीय प्रहर्षण

उपायकी खोज द्वारा साक्षात् फल के लाभ होने के वर्णन को तृतीय प्रहर्षण अलंकार कहते हैं।

"सर भीतर ही पकड़ा गज का पग आकर ग्राह भयंकर ने,
लड़ते-लड़ते बल क्षीण गयंद हुआ निरुपाय लगा मरने,
जब लौं हरि-भेंट के हेतु सरोज की खोज गजेन्द्र लगा करने,
करुनानिधि आ पहुँचे तब लौं अविलंब वहाँ दुख को हरने॥"

यहाँ अपनी रक्षा के लिये भगवान् को अर्पण करने के लिये कमल रूप उपाय को खोज करने के द्वारा गजराज को साक्षात् दीनबन्धु भगवान् के आगमन होने का लाभ होना वर्णन है।

"पाती लिखी अपने कर सों दई है 'रघुनाथ' बुलाइ कै धावन
और कह्यो मुख पाठ यों बेगि कृपा करि आइये आवत सावन,
भांति अनेकन के सनमान कै दै बकसीस पठायो बुलावन,
पायो न पौरि लौं जान कहा कहौं बीचहि आय गयो मनभावन।"

विदेश से नायक को बुलाने के लिये भेजे हुए दूत के पहुँचने रूप उपाय के मध्य में ही यहाँ नायक का आगमन रूप साक्षात् फल का लाभ होना कहा गया है।

उद्योतकार ने प्रथम प्रहर्षण अलंकार में कारणान्तर के सुयोग द्वारा कार्य की सिद्धि होने के कारण प्रहर्षण को 'समाधि' अलंकार के अन्तर्गत माना है।

(६७) विषादन अलंकार

वांछित अर्थ के विरुद्ध लाभ होने के वर्णन को विषादन अलंकार कहते हैं।

विषादन शब्द विषाद से बना है। विषाद का अर्थ है विशेष दुःख। यह अलंकार पूर्वोक्त 'प्रहर्षण' का प्रतिद्वन्द्वी है। प्रहर्षण में वांछित अर्थ

की सिद्धि द्वारा प्रहर्ष होता है और विषादन में वांछित अर्थ के विरुद्ध लाभ द्वारा दुःख। पूर्वोक्त 'विषम' अलंकार में अभीष्ट अर्थ के उद्योग किये जाने पर विरुद्ध फल होना कहा जाता है और विषादन में केवल वांछित अर्थ की इच्छा के विरुद्ध लाभ।

'जायगी बीत ये रात सुहायगी वो अरुनोदय की अरुनाई,
भानु विभा विकसायगी औ खुलि जायँगी कंज-कली हू मुचाई,
यों जिय सोचति ही अलिनि नलिनी-गत-कोष प्रदोष-रुकाई,
हाय! इतेक में आ गजनी ही में पंकजनी धरि खाई॥'

सूर्य के अस्त होने पर कमल में रुकी हुई भौंरी सोच तो यह रही थी कि 'सूर्योदय के समय कमल खिलने पर मैं इस बन्धन से छूट जाऊँगी' किन्तु यह न होकर उस कमल को हथिनी ने रात्रि में ही उखाड़कर खा लिया, अतः विरुद्ध लाभ होना कहा गया है।

"सुन श्री रघुनन्दन का अभिषेक सहर्ष प्रफुल्लित गात हुआ,
अति उत्सुक चाह रहे सब थे सुखकारक जो कि प्रभात हुआ,
वर कैकइ को मिस से सहसा वह दारुण वज्र निपात हुआ,
बनवास के दृश्य दुख-प्रद में परिवर्तित हा! वह प्रात हुआ।"

राज्याभिषेक सुनकर अयोध्या की प्रजा उस आनन्द को देखने की अभिलाषा कर रही थी, किन्तु यह न होकर उसके विरुद्ध श्री रघुनाथ जी के बनवास का दुःखप्रद दृश्य उपस्थित होना वर्णन है।

(६८) उल्लास अलंकार

वांछित अर्थ की अपेक्षा अधिकतर लाभ होने के वर्णन को उल्लास अलंकार कहते हैं।

उल्लास शब्द उत् और लश से वना है। यहाँ उत् उपसर्ग का अर्थ प्रबल और लश धातु का अर्थ सम्बन्ध है। अतः उल्लास का अर्थ है प्रबल सम्बन्ध। उल्लास अलंकार में एक पदार्थ के प्रबल गुण वा दोष के सम्बन्ध से दूसरे को गुण या दोष प्राप्त होना कथन किया जाता है।

गुण से गुण--

'सुमनन की सौरभ हरत विरहिन हू से प्रान,
गंग तरंगन से बहू पावन ह्वै पवमान[1]॥'

गंगाजी के पावन गुणों द्वारा यहां फूलों की सुगन्धि और वियोगी जनों के प्राण हरण करने वाले पवन को पवित्र हो जाने रूप गुण की प्राप्ति है।

दोष से दोष--

'रहिबो उचित न मलय तरु! या कुबंस बन माहिं,
घिसल परस्पर ह्वै अनल सिगरौ बन पजराहिं॥'

यहाँ बाँसों के परस्पर घिसने से अग्नि प्रथम होने रूप दोष से सारे बन के दग्ध हो जाने रूप दोष का होना कहा गया है?

गुण से दोष--

'फल क्या नर के दृग का जननी! यदि दीरघ वे मनहारी भी हों,
धिक हैं धिक कर्ण तथा वह भी यदि शोभित कुण्डलधारी भी हों,
जिससे अति रम्य उतंग तरंग तुम्हारी कभी जो निहारी न हों,
जिनसे ध्वनि कर्ण रसायन ये सुनपाई जो मातु! तुम्हारी न हों।'

यहां श्रीगंगाजी के तरंगों की ध्वनि के गुण से उनके न सुनने वालों के कानों को धिक्कार रूप दोष कहा गया है।

"छोटे और बड़े जहाज जल में जो दीखते हैं खड़े,
हैं ये दृश्य विचित्र हमको हैं हानिकारी बड़े,
ले जाते सब भारतीय धन वे हा! अन्न को भी वहाँ,
लाते हैं सब ऊपरी चटक की चीजें विदेशी यहाँ॥"

यह बम्बई के समुद्र-तट का दृश्य वर्णन है। जहाजों के दृश्य की शोभा के गुण से जहाजों द्वारा भारतवर्ष का धन--कच्चा माल रुई, सन आदि

---

१ पवन।

विदेश ले जाने और ऊपरी चमक की विदेशी वस्तुओं के यहाँ आने से, इस देश की हानि होने रूप दोष कहा गया है।

दोष से गुण—

"सूधि स्वाद लै बाँदरनि तज्यो मान मति माख,
कियो न चूरन जतन करि रतन! लाभ गनि लाख॥"

यहाँ बन्दरों की मूर्खता के दोष से रत्न का चूर्ण न होना, यह गुण कहा गया है।

(६९) अवज्ञा अलङ्कार

एक के गुण और दोष से दूसरे को गुण और दोष प्राप्त होने के वर्णन को 'अवज्ञा' अलंकार कहते हैं।

अवज्ञा का अर्थ है अनादर। किसी पदार्थ का अनङ्गीकार करना भी अनादर है। अवज्ञा अलंकार, पूर्वोक्त 'उल्लास' का विरोधी है। उल्लास में अन्य के गुण-दोषों का अङ्गीकार है और अवज्ञा में अन्य के गुण-दोषों का अनङ्गीकार—

गुण से गुण के न होने में—

"करि वेदांत विचार हू सठहि विराग न होय,
रंच न मृदु मैनाक भी निसिदिन जलनिधि सोय॥"

यहाँ वेदान्त शास्त्र के विचार रूप गुण से खल को वैराग्य प्राप्ति रूप गुण का न होना कहा गया है।

"डरपोकपने की तजी नहिं बान मँजे खल! छिद्र विधानन में,
बदली नहिं बानी सुहानी कछू रहे पूरे भयानक तानन में।
सुचि भोजन में रुचि कीन्हीं नहीं सब खाइबो सीखो मसानन में,
करतूत कहौ भला कौन करी जो बसे तुम स्यारजू कानन में॥"

कानन (वन) में बसकर स्यार को वनवासी विरक्तजनों के उत्तम गुणों का प्राप्त न होना यहाँ कहा गया है। यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा मिश्रित है।

दोष से दोष के न होने में—

> 'अनल भाल-तल गल गरल लसत सीस कटि व्याल,
> हरत न हर-तन दुति तदपि नहिं भव दारुन ज्वाल॥"

यहाँ ताप करने वाले अग्नि, विष और सर्पों के संग के दोष से श्रीमहादेवजी में क्रूरता आदि दोषों का अभाव कहा गया है।

(७०) अनुज्ञा अलङ्कार

किसी उत्कट गुण की लालसा (इच्छा) से दोष वाली वस्तु की भी इच्छा की जाने के वर्णन को 'अनुज्ञा' अलंकार कहते हैं।

'अनुज्ञा' में 'अनु' उपसर्ग का अर्थ है अनुकूल और 'ज्ञा' धातु का अर्थ है ज्ञान। अनुज्ञा का अर्थ है अनुकूल ज्ञान। अनुज्ञा अलंकार में दोष वाली वस्तु को अपने अनुकूल जानकर उसकी इच्छा की जाती है।

> "काहू सों माई! कहा कहिये सहिये जु सोई 'रसखान' सहावैं,
> नेम कहा जब प्रेम कियौ तब नाचिये सोई जो नाच नचावैं,
> चाहतु हैं हम और कहा सखि! क्योंहूँ कहूँ पिय देखन पावैं,
> चेरिये सों जु गुपाल रचे तौ चलौरी सबै मिलि चेरी कहावैं"

भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन प्राप्त होने की लालसा से दासी होने रूप दोष की इच्छा का यहाँ वर्णन है।

> 'कपि! यह तव उपकार ह्वै जीरन मो तन मांहि,
> इच्छुक प्रत्युपकार के विपदा चाहत ताहि॥'

हनुमानजी के प्रति रघुनाथजी ने यह कहा है कि श्रीजनकनन्दिनी के सन्देश लाने का हम पर जो उपकार किया है वह हमारे में ही जीर्ण हो जाय—हमारे द्वारा तुम्हारे पर प्रत्युपकार करने का अवसर ही न आये क्योंकि जो प्रत्युपकार करना चाहता है वह अपने ऊपर उपकार करने वाले उपकारी के विषय में यह प्रतीक्षा करता है कि उसके ऊपर (उपकार करने वाले पर) कब विपत्ति आवे और कब मैं इस पर प्रत्युपकार करूँ। यहाँ

हनुमानजी पर कभी विपद का समय न आये, इस गुण की लालसा से प्रत्यु-पकार न करने रूप दोष की इच्छा वर्णन की गयी है।

"प्रीति है तुम्हारी फिर भीति किसकी है मुझे,
आती है विपत्ति जो जो उन्हें तुम आने दो।
नैक डर डूबने का मुझको नहीं है नाथ!
प्रेम सरिता में मुझे क्षेम से नहाने दो।
आग अनुरागी की लगी है उर-धाम में जो,
उसको बुझाओ मत, मुझे जल जाने दो।
फूल कर सुख से न भूल कहीं जाऊँ तुम्हें,
दुःखी हो सदैव देव! मुझको उठाने दो॥"

यहाँ दुःख में भगवान् का स्मरण रहने रूप गुण की लालसा से दुःख रूप दोष की इच्छा करना वर्णित है।

कुछ आचार्यों के मतानुसार 'अनुज्ञा' पूर्वोक्त विशेष अलंकार के अन्त-र्गत है।

(७१) तिरस्कार अलङ्कार

गुण वाली वस्तु का भी किसी दोष युक्त होने के कारण तिरस्कार किये जाने के वर्णन को 'तिरस्कार' अलंकार कहते हैं।

तिरस्कार का अर्थ है निरादर। यह अलंकार पूर्वोक्त 'अनुज्ञा' का विरोधी है। अनुज्ञा में दोषवाली वस्तु की इच्छा की जाती है और तिरस्कार में गुण वाली वस्तु का अनादर किया जाता है।

तिरस्कार अलंकार को पंडितराज ने नवीन निरूपण किया है।

'जिन ह्वै बहु श्रिय विभव तिय गज तुरंग अरु बाग,
जिनके बस नर करत नहिं हरि-चरनन अनुराग॥'

भगवद् भक्ति के बाधक रूप दोषयुक्त होने के कारण यहाँ वैभव आदि का तिरस्कार वर्णन है।

'विष भी युत-मान दिया यदि हो, कर पान उसे मर जाना भला,
सह के अपमान सुधारस ले निज जीवन को न गिराना भला,
यह गौरव-पूर्ण उदार चरित्र पवित्र सदा अपनाना भला,
वह कुत्सित वृत्ति कदापि कहीं अति निंद्य नहीं दिखलाना, भला।'

इस पद्य में 'अनुज्ञा' और 'तिरस्कार' दोनों मिश्रित हैं। प्रथम पाद में सन्मान रूप गुण युक्त होने के कारण विष द्वारा मर जाने रूप दोष की इच्छा की जाने में अनुज्ञा है और दूसरे पाद में अपमान रूप दोषयुक्त होने के कारण अमृत के अनादर किये जाने में तिरस्कार है।

(७२) लेश अलङ्कार

दोष को गुण अथवा गुण को दोष कल्पना करने को 'लेश' अलंकार कहते हैं।

'लेश' का अर्थ है एक अंश या भाग। इसमें गुणवाली वस्तु के एक अंश में दोष या दोषवाली वस्तु के एक अंश में गुण दिखाया जाता है।

दोष को गुण—

"रूख रूख के फलन को लेत स्वाद मधु-छाक,
बिन इक मधुरी बानि के निधरक डोलत काक॥"

काक में मीठी वाणी न होने रूप दोष में यहाँ बहुत से वृक्षों के फलों का रसास्वादन और स्वतंत्र फिरना, यह गुण कल्पना किया गया है। इसमें 'अप्रस्तुतप्रशंसा' मिश्रित है।

'अंध है धन्य अनन्य अहो! धन अंधन के मुख को न लखावैं,
पांगुरे हूं जग-वंद्य सदा, नहिं जाचक ह्वै किहिं के घर जावैं,
मूकहु हैं बड़भागी तथा करि चाटुता जो किहिं को न रिझावैं,
है बहिरे स्तुति-जोग न क्यों खल के कटु बैन न जो सुनि पावैं।'

यहाँ अन्धता, पंगुता, मूकता और बधिरता रूप दोषों में एक-एक गुण कल्पना किये गये हैं।

"रहिमन विपदा हू भली जो थोरे दिन होय,
हित अनहित या जगत में जानि परत सब कोय ॥"

यहाँ विपदा रूप दोष में हितैषी और अहितैषी जनों की परीक्षा हो जाने का गुण कल्पना किया गया है।

'वर कुपुत्र जग मांहि नेह-फांस सतपुत्र सों,
जग सब दुखद लखाहिं ह्वै विराग को हेतु वह ॥'

यहाँ कुपुत्र रूप दोष में वैराग्य प्राप्त होने रूप गुण की कल्पना किया गया है।

गुण को दोष--

'मृगमद ! जिन यह गरब कर मो सुगन्ध विख्यातु,
दीन लीन-बन निज-जनक प्रान-हीन करवातु ॥'

यहाँ कस्तूरी के सुगन्ध रूप गुण में अपने उत्पादक मृगों के मरने का कारण दोष कल्पना किया गया है।

'व्याजस्तुति' अलंकार में प्रथम प्रतीत होनेवाले अर्थ के विपरीत तात्पर्य होता है। 'लेश' में यह बात नहीं। जैसे 'मृगमद जिन.....' में कस्तूरी की स्तुति अभीष्ट नहीं किन्तु वह उत्पादक की प्राण-नाशक होने के कारण उसकी निंदा ही की गई है। और 'अवज्ञा' अलंकार में उत्कट गुण की लालसा से दोष वाली वस्तु की इच्छा की जाती है। और 'लेश' में दोष वाली वस्तु मे गुण या गुणवाली वस्तु में दोष कल्पना किया जाता है।

(७३) मुद्रा अलङ्कार

प्रस्तुत अर्थ के पदों द्वारा सूचनीय अर्थ के सूचना किये जाने को 'मुद्रा' अलंकार कहते हैं।

मुद्रा नामांकित मुहर या चपड़ास को कहते हैं। इसी लोकप्रसिद्ध मुद्रा न्याय के अनुसार इस अलंकार का नाम मुद्रा है। जैसे नामांकित मुहर या चपड़ास द्वारा किसी व्यक्ति का सम्बन्ध सूचन किया जाता है,

उसी प्रकार मुद्रा अलंकार में प्रासंगिक वर्णन में सूचनीय अर्थ का सूचन किया जाता है। अलंकार सम्भवतः कुवलयानंद में नवीन लिखा गया है।

'न मुदितवदना ही पुष्पिताग्रा लखाती,
न सु कुसुमविचित्रा स्रग्धरा भी दिखाती,
न ललित इससे वो हारिणी शालिनी है,
यह मृदु पद वाली सुन्दरी मालिनी है॥'

यह किसी मालिनी[1] (मालिन) का वर्ण है। मालिनी के प्राकरणिक वर्णन के पदों द्वारा यहाँ इस छन्द का 'मालिनी' नाम सूचन किया गया है।

"करणे क्यों रोती है ?
'उत्तर' में और अधिक तू रोई,
मेरी विभूति है जो,
उसकी भवभूति क्यों कहे कोई।"

'साकेत' इस पद्य में 'करुणा' के प्राकरणिक वर्णन के प्रसंग में 'उत्तर' और 'भवभूति' पदों द्वारा महाकवि भवभूति के करुण रस पूरित 'उत्तर रामचरित' नाटक सूचन किया गया है।

(७४) रत्नावली अलङ्कार

जिसका साथ कहा जाना प्रसिद्ध हो ऐसे प्राकरणिक अर्थों के क्रमानुसार वर्णन को 'रत्नावली' अलंकार कहते हैं।

---

१ मालिन पक्ष में यह अर्थ है कि यह मुदितवदना यद्यपि पुष्पिताग्रा नहीं है अर्थात् इसके आगे फूलों की डालियां नहीं है न विचित्र पुष्पों की माला ही लिये हुए है पर जो लज्जाशील (दूसरी मालिन) फूलों के हार-वाली है वह इससे अधिक मनोहारिणी नहीं है यह कोमल चरणों वाली 'मालिनी' बड़ी सुन्दरी है। मालिनी छन्द के पक्ष में यह अर्थ है कि 'यह प्रमुदितवदना' 'पुष्पिताग्रा' 'स्रग्धरा' 'कुसुम-विचित्रा' 'हारिणी' 'शालिनी' छंद नहीं है। यह कोमल पदावली वाला मालिनी छंद है।

रत्नावली का अर्थ है रत्नों की पंक्ति। इस अलंकार में रत्नों की पंक्ति की भांति क्रमानुसार प्राकरणिक अर्थों का क्रमशः वर्णन होता है।

'नव नील सरोजन को इहिं के जुग-दीरघ नैनन पत्र दियो,
नव पुष्प गुही कबरी भर ने सिख पिच्छ सों पूरब-पक्ष ठयो,
अति बंक निसंक भई भृकुटी स्मर के धनु को अनुवाद छयो,
पुनि हास-विलास भरे मुख सों इन खण्डन चन्द्र प्रकाश कियो।'

नायिका की अंग-शोभा के इस वर्णन में विद्वानों के शास्त्रार्थ का क्रम[1] वर्णन किया गया है।

"वायु बहारि बहारि रहे छिति बीथि सुगंधनि जाती सिंचाई,
त्यों मधुमाते मलिंद सबै जय के करखान रहे कछु गाई,
मङ्गलपाठ पढ़ैं 'द्विजदेव'[2] सबै विधि सो सुखमा उमगाई,
साजि रहे सब साज घने बन में रितुराज की जानि अवाई।"

वसन्त के इस वर्णन में राजाओं के नगर-प्रवेश के समय की तय्यारी के मार्ग को स्वच्छ एवं सुगन्धित द्रव्य में सिंचन जयघोष और मङ्गलगान इत्यादि का क्रम सूचित किया गया है।

(७५-७६) तद्गुण और पूर्वरूप अलङ्कार

अपना गुण त्याग कर उत्कट गुणवाली निकटवर्ती दूसरी वस्तु के गुण ग्रहण करने के वर्णन को 'तद्गुण' अलंकार कहते हैं।

---

१ विद्वानों के शास्त्रार्थ में यह क्रम प्रसिद्ध है कि प्रथम शास्त्रार्थ के लिए पत्र दिया जाता है, फिर पूर्व पक्ष किया जाता है। फिर प्रतिपक्षी के लेख का अनुवाद और उसके पीछे खंडन किया जाता है। यहाँ यही क्रम दिखाया गया है कि इस नायिका के दीर्घ नेत्रों ने नवीन नीले कमलों को शास्त्रार्थ के लिए पत्र दिया है, पुष्प-ग्रथित केशपाश ने मयूर के पंखों से पूर्व-पक्ष किया है, बाँकी भृकुटियों ने कामदेव के धनुष का निःशंक अनुवाद किया है और हास्य मुख ने चन्द्रमा के प्रकाश का खण्डन कर दिया है।

२ श्लेषार्थ पक्षीगण—

तद्गुण शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए काव्य प्रकाश में कहा है—'तस्य अप्रकृतस्यगुणाऽत्रास्तीतितद्गुण'। अर्थात् किसी वस्तु में अन्यदीय गुण का होना। इस अलंकार में लक्षणानुसार अन्यदीय गुण का ग्रहण होता है।

यहाँ 'गुण' शब्द का अर्थ रंग और रूप लिया गया है।

"अति सुन्दर दोनों कानों में जो कहलाते शोभागार,
एक-एक था भूषण जिसमें जड़े हुए थे रत्न अपार।
कर्णपूर-प्रतिबिम्ब-युक्त था कांत कपाल युग्म उस काल,
कभी श्वेत था कभी हरा था कभी-कभी होता था लाल।"

यहाँ दमयन्ती के कपोलों द्वारा, अपना गुण त्याग कर समीपवर्ती अनेक रत्न-जटित कर्ण-भूषण का श्वेत, हरा और रक्त गुण ग्रहण किया जाना कहा गया है।

दूसरे का गुण ग्रहण करके जहाँ फिर अपना गुण ग्रहण किया जाता है, वहाँ भी 'तद्गुण' होता है।

'अरुण-कांति से अश्व सूर्य के भिन्न वर्ण हो जाते हैं,
रैवत-गिरि के निकट पहुँच जब प्रतिभा उसकी पाते हैं।
तब अपना ही नील-वर्ण फिर पाकर वे दृग आते हैं,
अरुणोदय का दृश्य एक, कवि माघ हमें बतलाते हैं॥'

माघ कवि कृत शिशुपाल-वध में यह रैवतक पर्वत का वर्णन है। सूर्य के सारथी अरुण की प्रभा से सूर्य के रथ के नीले रंग के अश्वों का भिन्न वर्ण हो जाने के पश्चात् रैवतक गिरि के समीप आ आने पर उसके नीले प्रति-बिम्ब द्वारा फिर उनका वही नीला वर्ण हो जाना वर्णन है।

'लखत नीलमनि होत अलि! कर विद्रुम दिखरात,
मुकता के मुकता बहुरि लख्यों तोहि मुसक्यात॥'

---

१ गुणोऽप्रधाने स पादौ मौर्व्यां सूत्रे वृकोदरे।—केशव कोश।

यहाँ मोतियों द्वारा नायिका के नेत्रों का नील गुण फिर हाथ में रक्खे जाने पर हाथ का रक्त गुण ग्रहण करके पुनः अपने गुण के समान नायिका के हास्य का श्वेत गुण ग्रहण किया जाना कहा गया है।

कुवलयानन्द में पिछले दोनों उदाहरणों में पूर्वरूप अलंकार माना है। काव्यप्रकाश में इस प्रकार के उदाहरण तद्गुण के अन्तर्गत ही दिखाये गये हैं। वस्तुतः पूर्वरूप में कुछ विशेषता भी नहीं है अतः पूर्वरूप को तद्गुण के अन्तर्गत ही माना जाना युक्तियुक्त है।

(७७) अतद्गुण अलङ्कार

समीपवर्ती वस्तु के गुण का ग्रहण किया जाना सम्भव होने पर भी ग्रहण नहीं किये जाने को अतद्गुण अलंकार कहते हैं।

अतद्गुण अलंकार पूर्वोक्त तद्गुण का विरोधी है। अतः तद्गुण के विपरीत इस अलंकार में लक्षण के अनुसार अपने समीपवर्ती वस्तु का गुण ग्रहण नहीं किया जाता है।

उदाहरण—

'आप अपना हृदय उज्वल कह रहे,
रंग उस पर प्रिय! नहीं चढ़ता कहीं,
रागपूरित हृदय में रखती उसे,
रक्त फिर भी वह कभी होता नहीं॥'

यहाँ नायिका के राग भरे हुए (अनुराग युक्त अथवा श्लेषार्थ-रंग भरे हुए) हृदय के रक्त गुण द्वारा नायक के उज्वल हृदय का रक्त होना (उज्ज्वल वस्तु का रक्त वस्तु में रहकर रक्त होना) सम्भव होने पर भी रक्त न होना कहा गया है।

प्रकृत द्वारा किसी कारणवश अप्रकृत का रूप नहीं ग्रहण किये जाने में भी अतद्गुण होता है। जैसे—

'कालिंदी के असित और सित गंगा के जल में स्थित तू—
स्नान नित्य करता रहता है तरंग-केलि में हो तर तू,
किन्तु नहीं घटती बढ़ती वह तेरी विमल शुभ्रता है,
राजहंस! तेरे में क्या ही अकथनीय अनुपमता है॥'

गङ्गाजल के श्वेत गुण का और यमुनाजल के नील गुण का हंस द्वारा ग्रहण न किये जाने का कारण यहाँ राजहंस होना कहा गया है।

तद्गुण और अतद्गुण का उल्लास और अवज्ञा से पृथक्करण—

एक के गुण से दूसरे को गुण होने में 'उल्लास' और एक के गुण से दूसरे को गुण न होने में अवज्ञा अलंकार कहा गया है, पर उल्लास और अवज्ञा से तद्गुण और अतद्गुण में यह भेद है कि उल्लास और अवज्ञा के लक्षणों में 'गुण' शब्द है वह 'दोष' शब्द का प्रतिपक्षी है—वहाँ एक के गुण से दूसरे स्थान पर गुण होने और न होने में उसी के गुण का मिलना और न मिलना नहीं है। किन्तु सद्गुरु के उपदेश से अच्छे और बुरे शिष्यों के जैसे ज्ञान की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति होती है उसी प्रकार उसके गुण से उत्पन्न होने वाले दूसरे प्रसिद्ध गुण का होना और न होना है। किन्तु तद्गुण और अतद्गुण के लक्षणों में 'गुण' शब्द है वह दूसरे के गुण से ही रंगना और न रंगना है जैसे रक्त रंग से सफेद वस्तु का रक्त होना और मलिन वस्तु का न होना। यद्यपि 'अवज्ञा' और अतद्गुण दोनों अलंकार कारण के होते हुए कार्य न होने रूप 'विशेषोक्ति' अलंकार के अन्तर्गत आ जाते हैं पर इनमें दूसरे के गुण का ग्रहण न होने रूप विशेष चमत्कार होने के कारण उल्लास और तद्गुण के विरोधी रूप में इन्हें भिन्न अलंकार माना गया है।

(७८) अनुगुण अलङ्कार

दूसरे की समीपता से अपने स्वाभाविक गुण के उत्कर्ष होने को 'अनुगुण' अलंकार कहते हैं।

'अनु' और 'गुण' मिलकर अनुगुण शब्द बना है। यहाँ 'अनु' उपसर्ग

का अर्थ आयाम[1] (दीर्घता या बढ़ना) है। अर्थात् गुण का बढ़ना। अनुगुण अलंकार में किसी वस्तु के स्वाभाविक गुण का अन्यदीय गुण के सम्बन्ध से उत्कर्ष होना कहा जाता है।

"कपि मुनि मदिरा-मत्त ह्वै विच्छु डसै पुनि ताहि,
तापर लागै भूत तब विकृति कहा कहि जाहि॥"

यहाँ बन्दरों के स्वतः सिद्ध वैकृत का मद्यादि से और भी अधिक वैकृत होना कहा गया है।

"काने खोरे कुबरे कुटिल कुचाली जानि,
तिय विशेष पुनि चेरि कहि भरत-मातु मुसकानि॥"

यहाँ मन्थरा के स्वतः सिद्ध कौटिल्य का स्त्री और दासी होने से आधिक्य वर्णन है।

(७९) मीलित अलङ्कार

किसी वस्तु के स्वाभाविक अथवा आगन्तुक[2] साधारण (एक समान) चिह्न द्वारा दूसरी वस्तु के तिरोधान[3] होने के वर्णन को मीलित अलंकार कहते हैं।

मीलित का अर्थ है मिल जाना। मीलित अलंकार में नीर-क्षीर न्याय के अनुसार एक वस्तु दूसरी वस्तु के साथ मिलकर छिप जाती है।

स्वाभाविक-धर्म द्वारा तिरोधान—

"पान पीक अधरान में सखी! लखी नहिं जाय,
कजरारी अँखियान में कजरारी! न लखाय।"

यहाँ नायिका से अधरों की स्वाभाविकता रक्तता के साधारण (समान) चिह्न द्वारा पान के पीक की रक्तता का तिरोधान—छिप जाना है। इसी प्रकार स्वाभाविक कजलौटे नेत्रों में कज्जल का छिप जाना है।

---

१ देखिए शब्द-कल्पद्रुम।

२ किसी कारणवश आये हुए। ३ दिखाई न देना, छिप जाना।

आगन्तुक-धर्म द्वारा तिरोधान—

'नृप ! तेरे भय भगि वसत हिम-गिरि-गुह अरिजाय,
कंपित पुलकित रहत वे भीत न तऊ लखाय॥'

किसी राजा के प्रति उक्ति है—तेरे भय से भयभीत होकर हिमालय की गुफाओं में निवास करने वाले तेरे शत्रु गण यद्यपि वहाँ तेरे भय के कारण कम्पायमान रहते हैं फिर भी वहाँ के लोग उन्हें हिमालय के शीत से कम्पित समझते हैं। यहाँ हिमालय के शीत-जनित समझी हुई कम्प द्वारा राजा के भय-जनित कम्प का छिप जाना है। हिमालय के शीत से शत्रुओं को कम्प होना आगन्तुक है न कि स्वाभाविक।

पूर्वोक्त 'तद्गुण' साधारण (तुल्यचिह्न वाली वस्तु का तिरोधान) नहीं है किन्तु उत्कट गुणवाली वस्तु का केवल गुण ग्रहण है। जैसे श्वेत मोतियों का विद्रुम का गुण प्राप्त होना। किन्तु 'मीलित' के 'पान पीक' आदि उदाहरणों में अधरों की अधिक रक्तता रूप तुल्य-धर्म द्वारा पान के पीक की रक्तता का तिरोधान है—छिप जाना है।

(८०) सामान्य अलङ्कार

प्रस्तुत को अप्रस्तुत के साथ गुण की समानता कहने की इच्छा से एकात्मक वर्णन को 'सामान्य' अलंकार कहते हैं।

सामान्य का अर्थ है समान का भाव। सामान्य अलंकार में प्रकृत और अप्रकृत का साम्य कहा जाता है। अर्थात् अप्रस्तुत के समान गुण न होने पर भी समान गुण कहने के लिए अत्युक्त गुण वाले (अपना गुण नहीं छोड़ने वाले) प्रस्तुत की अप्रस्तुत के साथ एकात्मता वर्णन की जाती है।

'चन्द्रमुखी लखि चाँदनी चंदन चर्चित चारु,
सजि पट भूषन कुसुम सित मुदित कियो अभिसारु॥'

यहाँ अप्रस्तुत चन्द्रमा के समान प्रस्तुत कामिनी में वस्तुतः कान्ति न होने पर भी चन्द्रमा की कान्ति के समान कहने की इच्छा से शुक्लाभिसारिका

(चन्दनादि से सफ़ेद सिंगार करके प्रिय के निकट अभिसार करने वाली) नायिका को चन्द्रमा के साथ एकात्मता (एकरूपता) वर्णन की गयी है।

कुवलयानन्दकार ने जहाँ 'सादृश्य से कुछ भेद' प्रतीत होता है, वह भी वह अलंकार माना है। जैसे—

'रतनन के थंभन घने लखि प्रतिबिंब समान,
सक्यो न अंगद दशमुखहि सभा मांहि पहिचान॥,

यहाँ रत्न-स्तम्भों में रावण के अनेक प्रतिबिम्बों के सादृश्य में और साक्षात् रावण में कुछ भेद की प्रतीति न होना कहा है।

"द्योसगगौरन के गौर के उछाहन में
छाई उदैपुर में बधाई ठौर ठौर है।
देखो भीम राना या तमासो ताकिबे के लिये
माची आसमान में विमानन की झौर है।
कहै 'पदमाकर' त्यों धोखे मा उपमा के गज—
गौनिन की गोद में गजानन की दौर है।
पार-पार हेला महामेला में महेस पूछै
गौरन में कौनसी हमारी गनगौर है।"

यहाँ गनगौरों के उत्सव में गौरीजी की समानता किसी में न होनेपर भी अनेक सुन्दरी नायिकाओं में और श्रीगौरीजी में भेद की अप्रतीति वर्णन की गयी है।

सामान्य और मीलित का पृथक्करण—

'मीलित' में बलवान वस्तु द्वारा उसी गुण वाली निर्बल वस्तु के स्वरूप का तिरोधान होता है। और 'सामान्य' में दोनों वस्तुओं का स्वरूप प्रतीत होने पर गुण की समानता से दोनों में अभेद की प्रतीति होती है। लक्षण में 'अव्यक्त निज गुण' के कथन द्वारा तद्गुण' से पृथकता की गयी है क्योंकि 'तद्गुण' में निज-गुण त्याग कर दूसरे का गुण ग्रहण होता है। सामान्य में निज-गुण का त्याग नहीं होता है।

(८१) उन्मीलित अलङ्कार

सादृश्य होने पर भी कारण-विशेष द्वारा भेद की प्रतीति के वर्णन को 'उन्मीलित अलंकार' कहते हैं।

'उन्मीलित' अलंकार पूर्वोक्त 'मीलित' के विपरीत है। अर्थात् इस अलंकार में एक वस्तु के साथ मिलकर भी किसी कारण-वश फिर पृथक् प्रतीत होने लगती है।

"चंपक हरवा अंग मिलि अधिक सुहाय
जानि परै सिय-हियरे जब कुम्हिलाय।।"

यहाँ चम्पक के पुष्प जैसी अंग कांतिवाली श्री जानकी जी के अङ्गों में और चम्पा की माला में भेद प्रतीत न होने पर, चम्पक की माला के कुम्हलाने रूप कारण द्वारा भेद ज्ञात होना कहा गया है।

"देखवे को दुति पून्यो के चंद की हे 'रघुनाथ' श्री राधिका रानी
आइ बिलोर के चौंतरे ऊपर ठाढ़ी भई सुख सौरभ सानी,
ऐसी गई मिलि जोन्ह की ज्योति सों रूप की रासि न जाति बखानी,
बारन तें कुछ भौंहन तें कछु नैनन की छवि तें पहिचानी।।"

यहाँ चन्द्रमा की चाँदनी से श्री राधिका जी का भेद उनके श्याम-वर्ण के केशों आदि द्वारा ज्ञात होना कहा है।

"मिलि चंदन-बेंदी रही गोरे मुख न लखाय,
ज्यों-ज्यों मद-लाली चढ़ै त्यों-त्यों उगरत जाय।।"

गौरवपूर्ण नायिका के भाल पर चन्दन की बेंदी का भेद यहाँ मदपान की रक्तता के कारण ज्ञान होना वर्णन है।

उन्मीलित अलंकार और इसी से मिलते हुए 'विशेषक' नामक अलंकार काव्यप्रकाश में 'सामान्य' के अन्तर्गत माने गये हैं।

(८२) उत्तर अलङ्कार

उत्तर का अर्थ स्पष्ट है। उत्तर अलंकार में चमत्कारक उत्तर होता है। यह दो प्रकार का होता है।

प्रथम उत्तर

उत्तर के श्रवण-मात्र से प्रश्न का अनुमान किया जाने अथवा बारम्बार प्रश्न करने पर असम्भाव्य (अप्रसिद्ध) बार-बार उत्तर दिये जाने को प्रथम 'उत्तर' अलंकार कहते हैं।

यह दो प्रकार का होता है—

(क) उन्नीत प्रश्न—अर्थात् व्यंग्य युक्त उत्तर सुनकर ही प्रश्न की कल्पना किया जाना।

(ख) निबद्ध प्रश्न—अर्थात् कई बार प्रश्न किये जाने पर कई बार अप्रसिद्ध (दुर्ज्ञेय) उत्तर दिया जाना।

उन्नीत प्रश्न—

"बनिक ! नहीं गजदंत इत सिंहछाल हू नाहिं,
ललितालक-मुख-सुत-बधू है मेरे घर माँहि॥"

हाथी दाँत और सिंह के चर्म के ग्राहक के प्रति यह वृद्ध व्याध का उत्तर वाक्य है। इसी उत्तर-वाक्य द्वारा ग्राहक के 'क्या तेरे यहाँ हाथी-दाँत और सिंह-चर्म है?' इस प्रश्न का अनुमान हो जाता है। और वृद्ध व्याध का दूसरा वाक्य (दोहे का उत्तरार्द्ध) यदि साभिप्राय समझा जाय तो यह अभिप्राय है कि 'मेरा पुत्र अपनी सुन्दर अलकों वाली रूपवती स्त्री में ऐसा आसक्त है कि उसे छोड़कर वह कहीं बाहर शिकार करने को जाता ही नहीं।'

यह श्लेष-गर्भित होता है—

"सुवरन खोजन हौं फिरौं सुन्दरि! देश-विदेस,
दुरलभ यह है समुझि जिय चिंतित रहौं हमेस॥"

यह किसी तरुणी के प्रति किसी नागरिक की उक्ति है। इसमें तरुणी से इस प्रश्न की कल्पना की जाती है कि 'तुम चिन्ता-ग्रस्त किसलिये हो?'

निबद्ध-प्रश्न—

'कहा विषम? है दैव-गति सुख कह? निरुज सुअंग,
का दुरलभ! गुन-गाहकहिं, दुख कह? दुरजन-संग॥'

यहाँ 'कहा विषम' आदि का कई प्रश्नों के 'दैव-गति' आदि कई अप्रसिद्ध उत्तर दिये गये हैं।

इस निबद्ध प्रश्न में और 'परिसंख्या' में यह भेद है कि वहाँ लोक-प्रसिद्ध उत्तर को दूसरी वस्तु के निषेध में तात्पर्य होता है और अप्रसिद्ध उत्तर भी नहीं होते। और यहाँ 'दैवगति' आदि उत्तरों का 'विषमता' मात्र कहने में ही तात्पर्य है, न कि किसी दूसरी वस्तु की निषेध में और यहाँ अप्रसिद्ध उत्तर है।

उत्तर अलंकार का काव्यलिंग और अनुमान से पृथक्करण—

काव्यलिंग अलंकार में निष्पादक-हेतु होता है और इस (उत्तर) अलंकार में उत्तर-वाक्य, प्रश्न का उत्पादक या निष्पादक, हेतु नहीं किन्तु उसका ज्ञापक (बोध कराने वाला) होता है। यद्यपि-ज्ञापक हेतु 'अनुमान' अलंकार में होता है। परन्तु अनुमान अलंकार साध्य और साधन दोनों कहे जाते हैं। उत्तर अलंकार में केवल उत्तर-वाक्य ही कहा जाता है। उद्योतकार का कहना है कि काव्यलिंग की संकीर्णता (मिलावट) मान लेने पर भी उत्तर अलंकार में उत्तर-वाक्य द्वारा प्रश्न की कल्पना की जाने का चमत्कार विशेष होने के कारण इसे स्वतंत्र अलंकार माना जाने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

द्वितीय उत्तर

प्रश्न के वाक्य में ही उत्तर अथवा बहुत से प्रश्नों का एक ही उत्तर कहे जाने को द्वितीय उत्तर अलंकार कहते हैं।

प्रश्न के वाक्य में उत्तर जैसे—

> "कोकहिये जल सों सुखी? कोकहिये पर स्याम,
> कोकहिये जो रस बिना कोकहिये सुख वाम।"

यहाँ चारों चरणों में क्रमशः—जल से कौन सुखी है? श्याम पंख वाले क्यों कहे जाते हैं? अरसिकों को क्या कहते हैं? और स्त्रियों को

सुखदायक कौन है यह चार प्रश्न हैं। इन प्रश्नों के इन्हीं अक्षरों में क्रमशः–कोक (चक्रवाक,) का हृदय जल से सुखी है, काकपक्षी के हृदय पर श्याम पंख हैं, अरसिक जन काक के समान कुत्सित हृदय हैं और जिनके हृदय में कोकशास्त्र है, ये उत्तर हैं।

अनेक प्रश्नों का एक उत्तर जैसे—

"तोरयो सरासर संकर को किन ? कौन लियो धनु त्यों भृगुनाथ सों ?
कौन हन्यो मृगराज स बालि को ? कौन सुकंठहि कीन्हों सनाथ सों ?
राजसिरी कों विभोषन-भाल दै को 'लछिराम' जित्यो दसमाथ सों ?
उत्तर एकइ बार दियो रचना सिगरी रघुनाथ के हाथ सों !"

यहाँ 'तोरयो सरासन संकर को किन ?' इत्यादि अनेक प्रश्नों का 'रचना सिगरी रघुनाथ के हाथ सों' यही एक उत्तर है।

(८३) सूक्ष्म अलङ्कार

किसी इंगित (नेत्र या भृकुटी-भंगादि की चेष्टा) या आकार से जाने हुए सूक्ष्म अर्थ (रहस्य) को किसी युक्ति से सूचित किये जाने को 'सूक्ष्म' अलंकार कहते हैं।

सूक्ष्म का अर्थ है, तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा सहृदय जनों के जानने योग्य रहस्य। सूक्ष्मः तीक्ष्णमतिसंवेद्य—काव्यप्रकाश वृत्ति। इस अलंकार में लक्षणानुसार सूक्ष्म अर्थ का सूचन कया जाता है।

"लख्यो भीम हरि ओर जब ? लरत जरासुत साथ,
चीरि दिखाओ कृष्ण ने ले तिनुका निज हाथ।"

जरासंध के साथ गदायुद्ध करते समय जब भीमसेन ने भगवान् श्री कृष्ण की तरफ देखा तो उन्होंने (श्रीकृष्ण ने) भीमसेन की इस चेष्टा से उसकी (भीमसेन की) असमर्थता सूचक रहस्य को जानकर तिनुके के हाथ मे लेकर चीर देने की युक्ति से यह सूचित किया है कि जरासंध के शरीर को तिनुके की तरह बीच से चीर डालो।

आकार द्वारा लक्षित सूक्ष्म—

"मोरपखा ससि सीस धरैं श्रुति में मकराकृत कुण्डल धारी,
काछ कछे पट पीत मनोहर कोटि मनोजन को छबि वारी,
'छत्रपति' भनि लै मुरली कर आई गये तहँ कुंज बिहारी,
देखत हीं चख लाल के बाल प्रबाल की माल गले बिच डारी।"

यहाँ रक्त नेत्र द्वारा रात्रि में निद्रारहित रहना जान कर नायिका ने इस रहस्य को प्रबाल की माला कुंजबिहारी को पहिराने की युक्ति द्वारा सूचना किया है।

आकार-लक्षित-सूक्ष्म अर्थ के ज्ञाता द्वारा साकूत चेष्टा की जाने में कुवलयानन्द में 'पिहित' अलंकार माना है। परन्तु काव्यप्रकाश में इसे सूक्ष्म का ही एक प्रकार माना गया है। पिहित का विषय अन्य है वह आगे पिहित के लक्षण और उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा।

(८४) पिहित अलङ्कार

एक अधिकरण में रहने वाला गुण अपनी प्रबलता से जहाँ आविर्भूत अ-समान अर्थान्तर को आच्छादित कर लेता है। वहाँ पिहित अलंकार होता है।

पिहित का अर्थ आच्छादन करना किसी दूसरे पदार्थ को ढक लेना। पिहित अलंकार में एक अधिकरण (आश्रय) में रहने वाला गुण अपनी प्रबलता से दूसरी वस्तु को—ऐसी वस्तु को जो उसके समान न हो—ढक लेता है। लक्षण में 'अ-समान' का प्रयोग पूर्वोक्त 'मीलित' से पृथकता बतलाने के लिये किया गया है। क्योंकि मीलित में समान गुण (चिह्न) द्वारा अन्य वस्तु का तिरोधान है। यह लक्षण रुद्रट कृत काव्यालंकार के अनुसार है।

रुद्रट ने अपने लक्षणानुसार पिहित का—

"मृदु सित कला-कलाप सम सखि! तव तन-दुति माँहि,
यह कृशता प्रिय-विरह को काहू को न लखाहि।"

यह (जिसका अनुवाद है वह पद्य) उदाहरण दिया है। यहाँ चन्द्र-कला के तुल्य अङ्ग की कान्ति और प्रिय-वियोगजनित कृशता इन दोनों का एक ही। (नायिका का शरीर) आश्रय है। अङ्ग-कान्ति से कृशता अ-समान है—इन दोनों का भिन्न-भिन्न रूप है—अङ्गकान्तिरूपी गुण की प्रबलता से नायिका के शरीर में आविर्भूत (प्रकट होने वाली) कृशता का आच्छादन होना कहा गया है।

रुद्रट के लक्षण और इस उदाहरण द्वारा पिहित अलंकार की 'सूक्ष्म' से स्पष्ट पृथक्ता हो जाती है। चन्द्रालोक और कुवलयानन्द के लक्षणों में न तो पिहित के समानार्थ का चमत्कार ही है और न 'सूक्ष्म' से पिहित की पृथक्ता ही हो सकती है।

(८५-८६) व्याजोक्ति और युक्ति अलङ्कार

किसी भी प्रकार से प्रगट हो जाने पर—गुप्त रहस्य को कपट से छिपाये जाने को व्याजोक्ति अलंकार कहते हैं।

व्याजोक्ति का अर्थ है व्याज से उक्ति अर्थात् कपट (छल) से कहना। व्याजोक्ति अलंकार में गुप्त रहस्य प्रकट हो जाने पर कपटोक्ति अर्थात् किसी बहाने से छिपाया जाता है।

अपह्नुति से व्याजोक्ति का पृथक्करण—

पूर्वोक्त अपह्नुति अलंकार में उपमेय-उपमान भाव रहता है और जिस बात को छिपाई जाती है और उस बात का पहिले कथन करके निषेध पूर्वक छिपाई जाती है और छेकापह्नुति में भी अपनी कही हुई बात का ही अन्य अर्थ करके उसे निषेध पूर्वक छिपाई जाती है किन्तु व्याजोक्ति में न तो उपमेय-उपमान भाव रहता है और न जो बात छिपाई जाती है वह वक्ता द्वारा कही जाती है न निषेध ही किया जाता है।[1]

---

[1] देखिए साहित्यदर्पण व्याजोक्ति प्रकरण।

उदाहरण—

"तुहिनाचल ने अपने कर सों हर-गौरी के लै जब हाथ जुटाये,
तन कंपित रोम उठे सिव के, विधि भंग भये मन में सकुचाये,
'गिरि के कर में, अति-सीत अहो कहि यों वह सात्विक-भाव दुराये,
वह शंकर हो मम शंकर, जो हँसि के गिरि के रनवास लखाये'[1]।"

यहाँ श्रीशिव-पार्वती के विवाह में पाणि-ग्रहण के समय पार्वती जी के स्पर्श के उत्पन्न कम्पादिक सात्विक भावों को महादेव जी ने 'हिमालय के हाथों में बड़ी शीतलता है' ऐसा कहकर छिपाए हैं।

कुवलयानन्द में क्रिया आदि द्वारा छिपाये जाने में भी व्याजोक्ति अलंकार माना है।

"चतुर अली-सँग को छली आत गली लखि लाल,
ढके पुलक अनुराग के करि प्रनाम तव बाल।"

यहाँ श्रीकृष्ण को देखकर अनुराग-जन्य रोमाञ्चों को गोपाङ्गना ने प्रणाम करने की क्रिया से छिपाया है।

"ललन चलन सुन पलनु में अँसुवा झलके आय,
भई लखान न सखिन हूँ झूठे ही जमुहाय।"

यहाँ अश्रु आदि सात्विक भाव जम्हाई की क्रिया द्वारा छिपाये गये हैं। कुवलयानन्द में अपने रहस्य को छिपाने के लिये क्रिया द्वारा दूसरे को वञ्चन करने का 'युक्ति' नामक भिन्न अलंकार माना है किन्तु वह व्याजोक्ति के अन्तर्गत ही है। स्वयं कुवलयानन्दकार ने उपर्युक्त 'चतुरअली'

---

१ यह श्री शिव-पार्वती के विवाह प्रसंग का वर्णन है। पार्वती जी के पिता हिमाचल ने जब शिव जी का और पार्वती जी का पाणिग्रहण (हथलेवा जुड़ाने का कार्य) करवाया उस समय पार्वती जी के हाथों के स्पर्श से उत्पन्न प्रेम-जन्य कम्प और रोमांच आदि सात्विक भावों को श्री शंकर द्वारा यह बहाना कर के कि 'ओहो! हिमाचल जी के हाथों में बड़ी शीतलता है' छिपाया जाना समझकर देवांगनाएँ हँसने लगीं।

इस उदाहरण को व्याजोक्ति में लिखकर फिर 'युक्ति' अलंकार के प्रकरण में इसी को 'युक्ति' का उदाहरण भी बतलाया है।

(८७) गूढ़ोक्ति अलङ्कार

अन्योद्देशक वाक्य को दूसरे के प्रति कही जाने को 'गूढ़ोक्ति' अलंकार कहते हैं।

गूढ़ोक्ति अर्थात् गूढ़ (गुप्त) उक्ति। गूढ़ोक्ति अलंकार में अन्योद्देशक अर्थात् अन्य के प्रति वक्तव्य की निकटस्थ अन्य व्यक्ति से गुप्त रखने के लिये किसी दूसरे व्यक्ति के प्रति कहा जाता है।

"खिले फूल हों और घने वन बाग यों स्वामिनी को परखावनो है,
लखि या विधि गौरि के पूजन कों 'लछिराम' हियो हरखावनो है,
पहिले ही मराल मयूर चकोर मिलिन्दन को मँडरावनो है,
हँसि बोलो अली भली मैथिली को फिर काल्हि इहाँ सँग आवनो है"

जनकपुर की फुलवारी में सीता जी की सखी को हम कल्ह फिर यहाँ आयेंगी, यह बात श्री रघुनाथ जी के प्रति कहना अभीष्ट था, पर तटस्थ अन्य व्यक्तियों से छिपाने के लिये श्रीरघुनाथ जी को न कहकर उसने (सखी ने) अपनी सखियों को कहा है।

उद्योतकार का कहना[१] है कि 'गूढ़ोक्ति' ध्वनि काव्य है—अलंकार का विषय नहीं। क्योंकि गूढ़ोक्ति में दूसरे को सूचित किया जाता है, यह स्पष्ट नहीं कहा जाता है—व्यंग्यार्थ द्वारा ध्वनित होता है। अलंकार वहीं हो सकता है जहाँ व्यंग्यार्थ उक्ति द्वारा स्पष्ट कर दिया जाता है।

(८८) विवृतोक्ति अलंकार

उक्ति-चातुर्य से छिपाये हुए रहस्य को जहाँ कवि द्वारा प्रकट किया जाता है, वहाँ 'विवृतोक्ति' अलंकार होता है।

---

१ देखिए काव्य प्रकाश की प्रदीप और उद्योत व्याख्या पृष्ठ ५४

"ब्रह्म बंधु हंतव्य नहीं, यह वेद वाक्य है मान्य यथा—
और आततायी का वध भी वेद-विहित कर्तव्य तथा
इन वचनों से अर्जुन ने सब हरि का समझ रहस्य लिया,
द्रोण पुत्र के केश काट फिर मस्तक-मणि का हरण किया।"

यहाँ पूर्वार्द्ध में भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन के प्रति उक्ति चातुर्य से कहे हुए रहस्य को उत्तरार्द्ध में कवि द्वारा प्रकट किया गया है।

(८९) लोकोक्ति अलङ्कार

प्रसंग प्राप्त लोक-प्रसिद्ध किसी कहावत के उल्लेख किये जाने को 'लोकोक्ति' अलंकार कहते हैं।

लोकोक्ति जन समुदाय में प्रचलित कहावत को कहते हैं।

"बिन आदर पाय कै बैठि डिगा अपनो हठ दै सुख दै सुख लीजतु है,
अपमान औ मान परेखा कहा अपनो मति में चित दीजतु है,
कवि 'ठाकुर' काम निकारिबे के लिये कोटि उपाय करीजतु है;
अपने उरझे सुरझाइबे को सबही की खुसामद कीजतु है।"

यहाँ चौथे पाद में लोकप्रसिद्ध कहावत का उल्लेख है।

"गई फूलन काज हौं कुञ्जन आज न संग सखी जु अचानकरी ?
हरि आय गये भजि जाऊँ कितै जित ही तित काँटन सों जकरी;
'कवि नेही' कहै अति काम छयो सुनी मारग रोकि रह्यो तकरी,
सुन री सजनी ? गति ऐसी भई जैसे 'मारनो बैल गली सँकरी।"

यहाँ 'मारनो बैल गली सँकरी' इस लोक-प्रसिद्ध कहावत का उल्लेख है।

"मुसकाई मिथिलेश-नंदिनी प्रथम देवरानी फिर सौत—
अंगीकृत है मुझे किन्तु तुम नहीं माँगना मेरी मौत,
मुझे नित्य दर्शन भर इनके तुम करते रहने देना,
कहते हैं इसको ही अँगुली पकड़ प्रकोष्ठ पकड़ लेना।"

लक्ष्मण जी से प्रेम-याचना करने के पश्चात् श्रीरघुनाथजी से शूर्पणखा द्वारा प्रेम-भिक्षा माँगने पर जानकी जी की शूर्पणखा के प्रति इस उक्ति में 'अँगुली पकड़ कर पहुँचा पकड़ लेने' की लोकोक्ति का उल्लेख है।

(९०) छेकोक्ति अलङ्कार

अर्थान्तर-गर्भित लोकोक्ति को 'छेकोक्ति' अलंकार कहते हैं।

'छेक' का अर्थ चतुर है। छेकोक्ति में चातुर्य युक्त अन्यार्थ गर्भित लोकोक्ति कही जाती है।

"मों सों का पूछत अरी! बार बार तुम खोज,
जानतु है जु भुजंग ही भुवि भुजंग ये खोज॥"

निशाचरियों द्वारा जानकी जी से हनुमान जी के विषय में पूछने पर जानकी द्वारा उत्तरार्द्ध में कही हुई लोकोक्ति में यह अर्थान्तर गर्भित है कि तुम्हारी राक्षसी माया को तुम राक्षस ही जान सकते हो।

'जमुना तट दृग रावरे लगे लाल-मुख ओर,
चोरन की गति को सखी! जानतु है जग चोर॥'

लक्षित नायिका के प्रति सखी की इस उक्ति में जो उत्तरार्द्ध में लोकोक्ति है, उसमें यह अर्थान्तर गर्भित है कि 'तू क्यों छिपती है, मुझसे तेरी यह प्रेमलीला छिपी नहीं है।'

(९१) अर्थ-वक्रोक्ति अलङ्कार

अन्य अभिप्राय से कहे हुए वाक्य का अन्य व्यक्ति द्वारा अर्थश्लेष से दूसरा अर्थ कल्पना किये जाने को 'अर्थ-वक्रोक्ति' अलंकार कहते हैं।

वक्रोक्ति का अर्थ है बाँकी-टेढ़ी उक्ति। वक्रोक्ति अलंकार में अन्योक्ति वाक्य का वक्रोक्ति द्वारा अन्यार्थ कल्पना किया जाता है।

'गिरजे! कहु भिक्षुकराज कहाँ? बलि-द्वार गये वह हैं न यहाँ,
हम पूछत हैं वृषपालहि को वह तो ब्रज गौन चरातु वहाँ,

नृत ताँडव आज रच्यो कितु है। जमुनातट वीथिन-होतु तहाँ,
भयो सागर-सैल-सुतान में आज परस्पर यों उपहास महा॥'

यहाँ श्रीलक्ष्मी जी द्वारा "भिक्षुक कहाँ है?" इत्यादि श्री महादेव जी के विषय में पूछे हुए प्रश्न वाक्यों को पार्वती ने श्रीविष्णु भगवान् के विषय में कल्पना करके 'वलि द्वार गये' इत्यादि टेढ़े उत्तर दिये हैं। यहाँ 'भिक्षुक' आदि पदों के स्थान पर 'मँगता' आदि पदों के बदलने पर भी 'वक्रोक्ति' बनी रहती है, इसलिए यह अर्थ शक्तिमूला अर्थ-वक्रोक्ति है। शब्द-शक्ति-मूला वक्रोक्ति शब्दालंकार प्रकरण में पहिले लिखी गयी है।

"हे भरत भद्र! अब कहो अभीप्सित अपना,
सब सजग हो गये भंग हुआ ज्यों सपना,
हे आर्य! रहा क्या भारत-अभीप्सित अब भी,
मिल गया अकंटक राज्य उसे जब, तब भी,
पाया तुमने तरु तले अरण्य वसेरा,
रह गया अभीप्सित शेष तदपि क्या मेरा?
तनु तड़प-तड़प कर तप्त तात ने त्यागा,
क्या रहा अभीप्सित और तथापि अभागा॥"

चित्रकूट में भरतजी से श्रीरघुनाथ जी द्वारा 'अभीप्सित' पद का जिस अभिप्राय से प्रयोग किया गया है, भरत जी ने उसका अन्य अर्थ कल्पना करके उत्तर दिया है।

(९२) स्वभावोक्ति अलङ्कार

बालक आदि की स्वाभाविक चेष्टा या प्राकृतिक दृश्य के चमत्कार वर्णन को 'स्वभावोक्ति' अलंकार कहते हैं।

स्वभावोक्ति का अर्थ उक्त लक्षण से स्पष्ट है।

"सुन्दर सजीला चटकीला वायुयान एक
मैया हरे कागज का आज मैं बनाऊँगा।

चढ़के उसी पर करूँगा नभ की मैं सैर
बादल के साथ-साथ उसको उड़ाऊँगा।
मन्द-मन्द चाल से चलाऊँगा उसे मैं वहाँ
चहक-चहक चिड़ियों के सङ्ग गाऊँगा।
चन्द का खिलौना मृगछौना वह छीन लूंगा,
भैया मैं गगन की तरैया तोड़ लाऊँगा।"

यहाँ बच्चों की स्वाभाविक चेष्टा का वर्णन है।

"आगे धेनु धारि हैरी ग्वालन कतार तामें,
फेरि टेरि-टेरि धोरी धूमरीन गोन तें।
पोंछि पुचकार अँगोछनि सों पोंछि-पोंछि
चूमि चारु चरन चलावै सुवचन तें।
कहै 'महबूब' धरी मुरली अधर वर
फूंक दई खरच निखाद के सुरन तें।
अमित अनन्द भरे कंदछबि वृन्दावन
मन्द गति आवत मुकुन्द मधुवन तें।"

यहाँ गौ चारण से आते हुए श्री नन्दनन्दन का स्वाभाविक चित्ताकर्षक दृश्य वर्णन है।

"सायंकाल गिरे दिनेस-कर की लाली मनोमोहिनी,
होती है तब दिव्य वारिनिधि की क्या ही छटा सोहिनी,
झागों से विशदाभ रक्त-छबि पा ऊँची तरंगावली,
आती है अति दूर से फिर वहीं जाती वहाँ है चली।"

यहाँ बम्बई के समुद्र-तट की तरंगों के स्वाभाविक मनोहारी दृश्य का वर्णन है।

"छाई छवि स्यामल सुहाई रजनी-मुख की,
रंच पियराई रही और मुरेरे के।
कहै 'रतनाकर' उन्मगि तरु-छाया चली
बढ़ि अगवानी हेत आवत अँधेरे के।

घर-घर साजैं सेज अँगना सिंगारि अंग
लौटत उमंग भरे बिछुरे सबेरे के।
जोगी जती जंगम जहाँ ही तहाँ टेरे देत
फेरे देत फुदकि विहंगम बसेरे के॥"

इसमें सायंकाल के प्राकृतिक दृश्य का वर्णन है।

(९३) भाविक अलंकार

भूत और भावी भावों के प्रत्यक्ष की भांति वर्णन किये जाने को भाविक अलंकार कहते हैं।

'भाविक' शब्द में भाव और इक दो अवयव हैं। भाज का अर्थ है सत्ता (स्थिति) 'भू' सत्तायां और 'इक' प्रत्यय का अर्थ है रक्षा करना। भाविक अलंकार में भूत और भविष्यत भाव को वर्तमान की भांति कहकर उनकी रक्षा की जाती है।

"जा दिन तें ब्रजनाथ भटू ! इँहि गोक्कुल ते मथुराहि गये हैं,
छाकि रही तब तें छवि सों छिन छूटति ना छतियाँ में छपे हैं,
वैंसिय भांति निहारति हौं हरि नाचत कालिंदी कूल ठये हैं,
सत्रु सँहारि के छत्र धरयौ फिर देखत द्वारिकानाथ भये हैं।"

यहाँ श्रीकृष्ण द्वारा यमुना तट पर भूतकाल में किये गये नृत्य के दृश्य को तीसरे चरण में प्रत्यक्ष की भांति वर्णन किया गया है।

"अवलोकते ही हरि सहित अपने समक्ष उन्हें खड़े,
फिर धर्मराज विषाद से विचलित उसी क्षण हो गये,
वे यत्न से रोके हुए शोकाश्रु फिर गिरने लगे,
फिर दुःख के वे दृश्य उनकी दृष्टि में फिरने लगे।"

यहाँ अर्जुन और श्रीकृष्ण को सम्मुख देखकर राजा युधिष्ठिर को मृतक अभिमन्यु के भूतकालिक दुःख का पुनः वर्तमानकालिक प्रत्यक्ष की भांति वर्णन किया गया है।

"हौं मिलि मोहन सों 'मतिराम' सुकेलि करी अति आनँद वारी,
ते ही लता पुन देखत दुःख चले अँसुवा अँखियान सों भारी
आवति हौं जमुना तट कों नाहि जान परै विछुरे गिरधारी,
जानतु हौं सखि! आवन चाहतु कुञ्जन ते कढ़ि कुंजबिहारी।"

यहाँ श्री नन्दनन्दन का कुंजों से निकल कर आने के भूतकालिक दृश्य को अन्तिम चरण में प्रत्यक्ष की भांति वर्णन किया है।

"कही जाय क्यों मानिनी! छवि प्रतिअंग अनूप,
भावी भूषन-भार हू लसत अबहिं तव रूप॥"

भविष्य में भूषणयुक्त होनेवाली कामिनी के रूप को यहाँ वर्तमान में भूषण युक्त होना कहा है।

(६४) उदात्त अलङ्कार

उदात्त का अर्थ है—'उत्कर्षण आदियते गुह्यतेस्मेतिउदात्तम्'।[1] अर्थात् उत्कर्षता से वर्णन न किया जाना। उदात्त अलंकार में वर्णनीय अर्थ का समृद्धि द्वारा अथवा महत्पुरुषों के अंगभाव द्वारा उत्कर्ष वर्णन किया जाता है, इसके दो भेद हैं।

प्रथम उदात्त

अतिशय समृद्धि के वर्णन को प्रथम उदात्त अलंकार कहते हैं।

"मुक्तामाला अगणित जहाँ हैं घनी शंख सीपी
दूर्वा जैसी विलसित मणी रत्न-वैदूर्य की भी।
मूंगे के हैं कन-घन लगे देख बाजार-शोभा—
जी में आता अब उदधि में वालि ही शेष होगा।"

इस पद्य में उज्जैनी के बाजार की असम्भव समृद्धि का कवि-कल्पना-कृत वर्णन है।

---

१ काव्यादर्श कुसुमप्रतिमा व्याख्या।

द्वितीय उदात्त

वर्णनीय अर्थ में महत्पुरुषों के अंग भाव होने के वर्णन को द्वितीय उदात्त कहते हैं।

"जिनके परत मुनि-पतनी पतित तरी,
जानि महिमा जो सिय छुवत सकानी है।
कहै 'रतनाकर' निषाद जिन्हें जोग जानि,
धोए बिनु धूनि नाव निकट न आनी है।
ध्यावैं जिन्हे ईस औ फनीस-गुन गावैं सदा,
नावैं सीस निखिल मुनीस-गन ज्ञानी है!
तिन पद-पावन की परस-प्रभाव पूंजी,
अवध-पुरी की राज-रज में समानी है।"

अयोध्या के इस वर्णन में भगवान् श्रीरामचन्द्र का अङ्ग भाव है—'जिस अयोध्या में श्रीरामचन्द्रजी के ऐसे महत्त्वपूर्ण चरणों की रज मिली हुई है' इस कथन से अयोध्या की महिमा का उत्कर्ष वर्णन किया गया है।

"महा महिमतम विष्णु लोक को तज, जो था शोभा-भण्डार—
वन-विहार हित और देखने दिव्य अयोध्या का शृङ्गार—
रवि-कुल-कमल-दिवाकर होकर किया विष्णु ने यहीं निवास,
रावण-वध मिस मात्र क्योंकि था वह उनका भ्रू-भंग विलास।"

भारतवर्ष के इस वर्णन में भगवान् विष्णु के अवतार श्रीरामचन्द्रजी का अंग भाव है।

(६५) अत्युक्ति अलंकार

शौर्य और औदार्य आदि के अत्यन्त मिथ्या वर्णन को अत्युक्ति अलंकार कहते हैं।

अत्युक्ति का अर्थ स्पष्ट है।

"झूमते मतंग मति तरल तुरंग ताते,
रति-राते जरद, जरूर माँगि लाइबो।

कहैं 'पदमाकर' सो हीरा लाल मोतिन के,
पन्नन के भाँति-भाँति गहने जराइबो।
भूपति प्रतापसिंह? रावरे विलोक कवि,
देवता विचारैं भूमि लोकैं कब जाइबो।
इंद्र-पद छोड़ि इंद्र चाहतु कविंद्र पद,
चाहैं इंदरानी कवि-रानी कहवाइबो।"

यहाँ औदर्य की अत्युक्ति है।

'जब से निरखी उसने छबि है, मुसकान सुधा नँदनंदन की,
तबसे रहती उनमें अनुरक्त, दशा कुछ और हुई मन की,
हिलती चलती न कहीं क्षण भी, सुध भूल गई सब है तन की
सखि ? है उनकी गति दीपशिखा, अनुरूप विहीन-प्रभञ्जन की।'

यहाँ प्रेम की अत्युक्ति है।

"घूंघट खुलत अबै उलटु ह्वै जैहैं देव
उद्धत मनोज जग जुद्ध जूटि परैंगो।
को कहै अलीक बात, सोक है सुरोक[1] सिद्ध--
लोक तिहुंलोक की लुनाई लूटि तरैंगो।
दैयनि? दुराव-मुख नतरू तरैयनि को
मंडल हू मटकि चटकि टूटि परैंगो।
तो चितै सकोच सोचि-सोचि मृदु मूरछि कै,
छौरते छपाकर छता सो छुटि परैंगो।"

यहाँ नायिका के सौन्दर्य की अत्युक्ति है।

"गोपिन के अँसुवन के नीर पनारे बहे बहिके भये नारे,
नारेन हू ते भई' नदियाँ, नदियाँ नद ह्वै गये काटि कगारे,
वेगि चलो तौ चलौ ब्रज कों 'कवि-तोष' कहै प्रभु प्रानन प्यारे,
वे नद चाहतु सिंधु भये अब सिंधु त ह्वै हैं हलाहल भारे।"

यहाँ विरह की अत्युक्ति है।

---

१ स्वर्गलोक।

(६६) निरुक्ति अलंकार

योगवश से किसी नाम का और ही अर्थ कल्पना किये जाने को 'निरुक्ति' अलंकार कहते हैं।

निरुक्ति का अर्थ है किसी शब्द या पद की व्युत्पत्ति युक्त व्याख्या करना। निरुक्ति अलंकार में किसी ऐसे शब्द की जो किसी व्यक्ति आदि का नाम हो—प्रसिद्ध यौगिक व्याख्या को छोड़कर यौगिकशक्ति से चमत्कारक कल्पना द्वारा अन्य व्याख्या की जाती है।

'ताप करत अबलान को दया न कछु चित आतु,
तुम इन चरितन साँच ही दोषाकर विख्यातु।'

'दोषा' नाम रात्रि का है इसी चन्द्रमा का काम दोषाकार है। यहाँ इस यौगिक अर्थ को छोड़कर विरहिणी की इस उक्ति में वियोगिनी स्त्रियों तो ताप देने का दोष होने के कारण चन्द्रमा के 'दोषाकर' नाम का दोषों का भण्डार—यह अन्य यौगिक अर्थ कल्पना किया गया है।

"आपने आपने ठौरिन तौ भुवपाल सबै भुवि पालैं सदाई,
केवल नामहिं के भुवपाल कहावतु हैं, भुवि पालि न जाई,
भूपन की तुम ही धरि देह विदेहन में कल-कीरति पाई,
'केशव' भूषन की भुवि-भूषन भू-तन ते तनया उपजाई।"

राजाओं को पृथ्वी के पालक होने के कारण भुविपाल कहा जाता है। यहाँ राजा जनक के प्रति विश्वामित्र जी के इस वाक्य में भुविपाल का 'तुमने पृथ्वी से तनया (सीता जी) उत्पन्न की है, अतः तुम्हारा भुविपाल नाम है' वह अन्यार्थ यौगिकशक्ति से जनक के विषय में कल्पित किया गया है। यदि 'भुविपाल' के स्थान पर इस प्रसङ्ग में 'भू-पति' शब्द का प्रयोग महाकवि केशवदास करते तो बहुत ही उपयुक्त होता।

"सूर-कुलसूर महा प्रबल प्रताप सूर
चूर करिव कौं म्लेच्छ क्रूर प्रन लीन्यो तैं—

कहै 'रतनाकर' विपत्तिन की रेलारेल,
झेलि-झेलि मातृभूमि-भक्ति-भाव भीन्यो तैं।
वंश को सुभाव अरु नाम को प्रभाव थापि,
दाप कै दिलीपति कौं ताप दीह दीन्यो तैं।
घाट हल्दी पै जुद्ध ठाटि अरि मेद पाटि
सारथ विराट मेदपाट नाम कीन्यो तैं।"

यहाँ मेदपाट देश के राणा प्रताप द्वारा 'म्लेछों के भेद (शरीर के अन्दर की चर्बी) से परिपूर्ण किया जाना' यह अन्यार्थ यौगिक-शक्ति से कल्पना किया गया है।

(९७) प्रतिषेध अलंकार

प्रसिद्ध निषेध का अनुकीर्तन किये जाने को प्रतिषेध अलंकार कहते हैं।

प्रतिषेध का अर्थ निषेध है। प्रतिषेध अलंकार में जिस बात का निषेध प्रसिद्ध हो उसका फिर निषेध किया जाता है। प्रसिद्ध निषेध का पुनः निषेध निरर्थक होने के कारण अर्थान्तरगर्भित निषेध में चमत्कार होने के कारण अलंकार माना गया है।

"तिच्छन वान विनोद यह छली ! न चोपर खेल !"

यह तो प्रसिद्ध ही है कि युद्ध का कार्य चौपड़ का खेल नहीं है फिर यहाँ शकुनि के प्रति भीमसेन की इस उक्ति में—यह बाणों की क्रीड़ा है चौपड़ का खेल नहीं, इस प्रकार निषेध किया गया है उसमें—'तेरी कपट-चातुरी चौपड़ में ही चल सकती है, न कि युद्ध में' यह उपहासात्मक अर्थान्तर गर्भित है।

"दारा की न दौर यह रार नहीं खजुवे की
बाँधिबो नहीं है कैंधौं मीर सोहवाल को।
मठ विश्वनाथ को न वास ग्राम गोकुल को
देवी को न दोहरा न मन्दिर गुपाल को।

गाढ़े गढ़ लीन्हें बैरी कतलान कीन्हें
ठौर-ठौर हासिल उगाहत है साल को।
बूड़त है दिल्ली सो सँभारै क्यों न दिल्लीपति
धक्का आन लाग्यो सिवराज महाकाल को।"

यह तो प्रसिद्ध ही है कि शिवराज की दिल्ली पर चढ़ाई है वह दारा की दौर आदि नहीं है। फिर दारा की दौर आदि का यहाँ निषेध किया गया है, उसमें 'दारा की दौर आदि कार्य तो तूने सहज ही कर लिये थे, पर शिवराज का युद्ध तेरे से अजेय है' यहाँ अर्थान्तर (अभिप्राय) गर्भित है।

"माजू महारानी को बुलावो महाराजहू को,
लीजै मातु कैंकेई सुमित्रा के जिय को।
राति कौं सपत रिषिहू कै बीच बिलसत,
सुनौ उपदेश ता अरुंधती के पिय को।
'सेनापति' विश्व में बखाने विश्वामित्र नाम,
गुरु बोलि बूझिये प्रबोध करैं हिय को।
खोलिये निसंक यह धनुष न संकर को,
कुंवरि मयंकमुखी कंकन है सिय को।"

श्री रघुनाथ जी के प्रति विवाहोत्सव के समय मिथिला की रमणियों का उपहास है। सीता जी का कंकण, शिव-धनुष नहीं, यह तो प्रसिद्ध है। फिर धनुष का निषेध यहाँ इस अभिप्राय से किया गया है कि—कंकण के खोलने का कार्य धनुष-भङ्ग के कार्य से भी कठिन है।

'भाषा भूषण' में प्रतिषेध का—'मोहन कर मुरली नहीं कछु एक बड़ी बलाय' यह उदाहरण दिया है। ऐसे उदाहरण प्रतिषेध के नहीं हो सकते हैं। इसमें मुरली का निषेध करके उसमें बलाय का आरोप किया गया है अतः 'अपह्नुति' है।

(९८) विधि अलंकार

सिद्ध वस्तु का विधान किये जाने को 'विधि' अलंकार कहते हैं। 'विधि' का अर्थ विधान है। यह अलंकार पूर्वोक्त प्रतिषेध के प्रतिद्वन्द्वी रूप में माना गया है इसमें जिस वस्तु का विधान सिद्ध है, उसका फिर अर्थान्तर गर्भित विधान किया जाता है।

'तज कर, सर मुनि-सुद्र पर द्विज-सिसु जीवन-हेतु,
राम गात है जिन तजी सीता गर्भ-समेत।'

शूद्र के तप करने के अधर्म से अल्प-वयस्क ब्राह्मण बालक के मर जाने पर उस शूद्र पर बाण छोड़ते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्र की यह अपने हाथ के प्रति उक्ति है। श्रीरामचन्द्र का हाथ उनका अङ्ग सिद्ध ही है, फिर अपने हाथ के प्रति 'तू राम का गात है' ऐसा विधान किया गया है। वह अपनी अत्यन्त कठोरता दिखाने के अभिप्राय से गर्भित है। और यह (अर्थान्तर) 'जिस रामचन्द्र ने गर्भिणी सीता का त्याग कर दिया' इस विशेषण से प्रकट किया गया है।

(९९) हेतु अलंकार

कारण कार्य के सहित वर्णन करने को हेतु अलंकार कहते हैं।

हेतु और कारण एकार्थक शब्द हैं। कारण का कार्य के सहित अथवा कारण के साथ कार्य के अभेद वर्णन में हेतु अलंकार माना गया है।
कारण के साथ कार्य के वर्णन का उदाहरण—

"घरु-घरु डोलत दीन ह्वै जनु जनु जाचतु जाइ।
दियें लोभ चसमा चखनु लघु पुनि बड़ौ लखाइ॥"

यहाँ लोभ रूपी चसमा कारण का छोटे जनों को भी बड़े करके दीखने रूप कार्य के साथ कथन किया है।

कारण और कार्य के अभेद का उदाहरण—

"मोहि परम-पद मुकति सब तो पद-रज घनस्याम,
तीन लोक को जीतिबो मोहि बसिबो ब्रजधाम।"

यहाँ श्रीनन्दनन्दन की चरण-रज कारण है और परम पद कार्य है। रज को परम पद से एकता कथन की गई है।

'रूपक' में उपमेय और उपमान का अभेद कहा जाता है और 'हेतु' में कारण और कार्य का अभेद होता है।

दण्डी, रुद्रक और कुवलयानन्दकार ने 'हेतु' में अलंकार लिखा है। आचार्य भामह और मम्मट आदि इस प्रकार के 'हेतु' में अलंकारता नहीं मानते हैं।

(१००) अनुमान अलंकार

साधन द्वारा साध्य का चमत्कारपूर्वक ज्ञान कराये जाने को अनुमान अलंकार कहते हैं

'अनुमान' शब्द 'अनु' और 'मिति' से बना है। यहाँ 'अनु' का अर्थ लक्षण है[१]। लक्षण कहते हैं चिह्न को[२]। 'मिति का अर्थ है ज्ञान[३]। अतः अनुमान का अर्थ है अनुमितिकरण अर्थात् चिह्न द्वारा किसी वस्तु का ज्ञान किया जाना[४]। अनुमान में साधन द्वारा साध्य का ज्ञान किया जाता है।

जो वस्तु सिद्ध की जाती है उसे साध्य (लिङ्गी) और जिसके द्वारा वह सिद्ध की जाती है उसे साधन (लिङ्ग) अर्थात चिह्न कहते हैं। जैसे—धुएँ से अग्नि का होना सिद्ध होता है। अर्थात् जहाँ धुआँ होता है वहाँ पर यह ज्ञान हो जाता है कि यहाँ धुआँ है तो अग्नि भी अवश्य है। धुआँ साधन (चिह्न) है और अग्नि साध्य (ज्ञान का विषय) है। अनुमान अलंकार में

---

१ देखिए शब्दकल्पद्रुम। २ 'चिह्नं लक्ष्म च लक्षणः।' अमरकोश ! ३ देखिय शब्दकल्पद्रुम। ४ 'प्रतीतिर्लिंगिनी लिंगादनुमानमदूषितात्।'—काव्यप्रकाश बाल बोधिनी व्याख्या पृ० ९१३।

कवि-कल्पित चमत्कार साधन द्वारा साध्य का ज्ञान कराया जाता है। और 'अनुमान' अलंकार में साधन होता है वह ज्ञापक-कारण होता है:

'करतीं अपना अति चंचल ये जब वक-कटाक्ष निपात कहीं,
करता यह भी अविलम्ब सदा हृदि-वेधक बाण-निपात वहीं,
रमणीजन के अनुशासन में रहके झखकेतन[1] है सच ही,
कर पुष्पशरासन ले उनके चलता चल-हस्त पुरःसर ही।'

यहाँ 'कामदेव को स्त्रियों का आज्ञाकारी होना साध्य है—सिद्ध करना अभीष्ट है।' इस बात का ज्ञान—'स्त्रियों का कटाक्ष-पात जहाँ-जहाँ होता है—वहीं-वहीं कामदेव अपने बाण तत्काल छोड़ता है' इस साधन द्वारा कराया गया है।

'प्रिय-मुख-ससि निहचै बसतु मृगनैनी-हिय सद्म।
किरन-प्रभा तन पीतता मुकुलित हैं दृग पद्म॥'

वियोगिनी नायिका के शरीर की पीतता और मुकुलित नेत्र साधन सिद्ध किया गया है। यहाँ रूपक मिश्रित अनुमान है—मुख आदि में चन्द्रमा आदि का आरोप किया गया है।

यद्यपि उत्प्रेक्षा में जैसे 'जानतु हो' 'निश्चै' आदि वाचक शब्दों का प्रयोग होता है, वैसे ही वाचक शब्दों का प्रयोग प्रायः अनुमान में भी होता है किन्तु उत्प्रेक्षा में इन शब्दों का प्रयोग उपमेय में उपमान के सादृश्य की सम्भावना में अनिश्चित रूप से किया जाता है और 'अनुमान' में इन शब्दों का प्रयोग उपमेय उपमान भाव (सादृश्य) के बिना साध्य के साधन द्वारा सिद्ध करने के लिए निश्चित रूप से किया जाता है।

'प्रत्यक्ष' आदि अन्य प्रमाणालंकार—

कुछ ग्रन्थों में प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव और ऐतिह्य इन आठ प्रमाणों के अनुसार आठ प्रमाणालंकार माने

---

१ कामदेव।

हैं। किन्तु न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, और शब्द ये चार और वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रधान प्रमाण माने गये हैं—अन्य सब प्रमाण इनके अन्तर्गत माने गये हैं। हमने केवल 'अनुमान' अलंकार ही लिखा है। क्योंकि अनुमान के सिवा प्रत्यक्षादि प्रमाणालंकार काव्यप्रकाश आदि में नहीं है। वस्तुतः इनमें लोकोत्तर चमत्कार न होने से यहाँ भी उनको लिखकर विस्तार करना अनावश्यक समझा है।

'रसवत्' आदि अलंकार—

इनके सिवा 'रसवत्' आदि सात अलंकार कुछ ऐसे ग्रंथों में—जिनम गुणीभूत व्यंग्य का विषय नहीं लिखा गया है—अलंकार प्रकरण में लिखे गये हैं। किन्तु रसवत् आदि में नाममात्र की अलंकारता है। वास्तव में यह गुणीभूत व्यंग्य का विषय है और ये अलंकार रस, भाव आदि से सम्बन्ध रखते हैं। अतः यहाँ पर इनका निरूपण नहीं किया है।

तृतीय परिच्छेद

अब शब्द और अर्थ के संकीर्ण (मिल हुए) भेद 'संसृष्टि' आदि लिख जाते हैं—

(१) संसृष्टि अलंकार

तिल-तन्दुल न्याय से कई अलंकारों की एकत्र स्थिति होने को संसृष्टि अलंकार कहते हैं।

संसृष्टि का अर्थ है सङ्ग। 'संसृष्टि संसर्ग। संसर्गः सङ्गे।' संसृष्टि अलंकार में एक स्थान पर (एक छन्द में) दो या दो से अधिक शब्दालंकार या अर्थालंकार तिल-तन्दुल न्याय से (तिल और चावल की भांति एक दूसरे की अपेक्षा के बिना) पृथक्-पृथक् अपने-अपने रूप से स्पष्ट प्रतीत होते रहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है।

(१) शब्दालंकार संसृष्टि अर्थात् केवल दो या दो से अधिक शब्दालंकारों की निरपेक्ष एकत्र स्थिति होना।

(२) अर्थालंकार संसृष्टि अर्थात् केवल अर्थालंकारों की निरपेक्ष एकत्र स्थिति होना।

(३) उभयालंकार संसृष्टि अर्थात् शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों की निरपेक्ष एकत्र स्थिति होना।

अर्थालंकार संसृष्टि—

"कुण्डल जिय रक्षा करन कवच करन जन वार,
करन दान आहव करन, करन-करन बलिहार[1]।"

यहाँ 'लाटानुप्रास' और 'यमक' दोनों शब्द के अलंकारों की संसृष्टि है। पहिले तीनों पदों में एक ही अर्थ वाले 'करन' शब्द की अन्वय-भेद से कई बार आवृत्ति होने के कारण लाटानुप्रास है। और चौथे पाद में भिन्न-भिन्न अर्थवाले 'करन' शब्द की आवृत्ति होने के कारण यमक है। यहाँ एक छन्द में वह दोनों अपने-अपने स्वरूप में तिल और तन्दुल (चावल) की तरह पृथक्-पृथक् स्थित हैं। अतः संसृष्टि है।

अर्थालंकार संसृष्टि—

"वासन्ती के कुरवक घिरे कुन्ज के पास जो कि—
देखेगा तू सु-वकुल तथा रक्त-पत्री अशोक,
चाहें दोनों मम-सहित वे दोहदों के बहाने—
मत्कान्ता से मुख-मधु तथा पाद बाँया छुवाने।"

मेघदूत में यक्ष द्वारा उसके घर में बनी हुई पुष्प-वाटिका का वर्णन है। 'मम सहित' पद में सहोक्ति है और दोहद के बहाने से मुख के मधु की और बाँया पाद छूने की इच्छा के कथन में सापह्नव प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा है, अतः सहोक्ति और उत्प्रेक्षा इन दोनों अर्थालंकारों की संसृष्टि है।

---

१ प्राण की रक्षा करनेवाले कुंडल और जय की रक्षा करने वाले कवच का दान करने वाले और युद्ध करने वाले कर्ण के हाथों की बलिहारी है।

उभयालंकार संसृष्टि—

"औरन के तेज तुल जात हैं तुलान बिच
 तेरो तेज जमुना तुलान न तुलाइये।
औरन के गुन की सु गिनती गने ते होत
 तेरे गुन गन की न गिनती गनाइये।
'ग्वाल' कवि अमित प्रवाहन की थाह होत
 रावरे प्रवाह की न थाह दरसाइये।
पारावार पार हु को पारावार पाइयत
 तेरे पारावार को न पारावार पाइये।"

यहाँ अन्य नद-नदियों से जमुना जी का आधिक्य वर्णन किये जाने में व्यतिरेक अर्थालंकार है। 'त' 'ग' 'प' की अनेक बार आवृत्ति में वृत्यानुप्रास तथैव चतुर्थ चरण में एकार्थक 'पारावार' शब्द की आवृत्ति होने के कारण लाटानुप्रास है और यह दोनों शब्दालंकार संसृष्टि हैं। अतः यहां उभयालंकार संसृष्टि है।

(२) संकर अलंकार

नीर-क्षीर न्याय के अनुसार मिले हुए अलंकारों को संकर अलंकार कहते हैं।

संकर का अर्थ है अत्यन्त मिला हुआ—'संकरः व्यामिश्रत्ने।'[1] संकर अलंकार में नीर-क्षीर न्याय के अनुसार एक से अधिक अलंकार मिले रहते हैं। अर्थात् दूध जल मिल जाने की तरह कई अलंकारों का एक छन्द में मिल जाना। इसके तीन भेद हैं :—

(१) अङ्गांगीभाव संकर।
(२) सन्देह संकर।
(३) एकवाचकानुप्रवेश संकर।

---

१ देखिए चिन्तामणि कोष।

अङ्गागीभाव संकर

हां, कई अलंकार अन्योन्याश्रित होते हैं वहां **अङ्गागीभाव संकर** होता है।

अङ्गागीभाव संकर में एक अलंकार दूसरे अलंकार का अंग होता है अर्थात् एक दूसरे का उपकारक होता है, एक के बिना दूसरे की सिद्धि न होना।

'नरपति! तो अरि अंगना लूटीं सब बटमार,
अधर बिंब-दुति गुन्ज गुनि हरे न मुकता-हार।'

अधर-बिम्ब के सङ्ग से मोतियों के हारों को गुन्जाफल की कान्ति प्राप्त होने में तद्गुण है। और मोतियों के हारों को गुन्जाफल समझकर न लूटने में 'भ्रान्तिमान्' अलंकार है। यहाँ तद्गुण की सहायता से भ्रान्ति-मान् हो सकता है, क्योंकि जब तक अधर-बिम्ब से मोतियों में गुन्जाफलों की तद्गुणता प्राप्त न हो तब तक भ्रान्ति उत्पन्न नहीं हो सकती। और 'भ्रान्ति' के उपकार से ही तद्गुणालंकार अत्यन्त चमत्कार हो सकता है। अतएव इनका परस्पर में अङ्गांगी भाव है।

"श्री गङ्गा तट के वहाँ निकट ही हैं अद्रि ऊँचे सभी,
छा लेती उनको सफेद घन की आके घटाएँ कभी।
हो जाते हिम के पहाड़ मम वे सौन्दर्यशाली महा,
आता ह महिमा विलोकन अहो! मानों हिमाद्री वहाँ॥"

हरिद्वार के गंगा तट का वर्णन है। मेघों से आच्छादित पर्वतों को बर्फ के पहाड़ों की उपमा दी गयी है, वह (उपमा) इस दृश्य में जो हिमाद्रि की उत्प्रेक्षा की गयी है उसका अंग है। क्योंकि जब तक पर्वतों को बर्फीले पहाड़ों की उपमा न दी जाय तब तक उस दृश्य में हिमाद्रि की उत्प्रेक्षा नहीं की जा सकती। और इस उत्प्रेक्षा द्वारा यहाँ उपमा के चमत्कार में अभि-वृद्धि हो गयी है।

"डार-द्रुम-पालन बिछौना नव-पल्लव के,
सुमन झगूला साहैं तन छबि भारी दे।
पवन झुलावै केकी कीट बतरावै 'देव',
कोकिल हलावै हुलसावै कर तारी दै।
पूरित पराग सो उतारो करै राई नोन
कंज कली नायिका लतानि सिर सारी दै।
मदन महीप जू को बालक बसन्त ताहि,
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै॥"

यहाँ वृक्षों की टहनियों आदि में पालना आदि का 'रूपक' है, वह गम्योत्प्रेक्षा का अंग है। क्योंकि यदि उस बसन्त ऋतु को कामदेव के बालक का रूपक न किया जाय तो गुलाब के पुष्पों के खिलने के शब्दों में चटकारी देने की उत्प्रेक्षा नहीं हो सकती।

सन्देह-संकर अलंकार

बहुत से अलंकारों की स्थिति होने पर एक अलंकार का निर्णय न होन को सन्देह-संकर अलंकार कहते हैं।

हाँ, दो या दो से अधिक अलंकारों की एकत्र (एक छन्द में) सर्प और नकुल (नौला) तथा दिन और रात की भांति—विरोध होने के कारण चक्र काल में स्थिति नहीं हो सकी है अर्थात् जहाँ किसी एक अलंकार के न माने जाने में बाधक (प्रतिकूलता) न होने के कारण किसी भी एक अलंकार का निश्चय नहीं हो सकता हो कि यह अलंकार है? या यह?—ऐसा सन्देह रहता है वहाँ संदेह-संकर होता है।

'जैसे रतनाकर कियो निरमल छवि गम्भीर,
त्योंही विधि या जलधि को क्यों न मधुर हू नीर।'

यहाँ प्रस्तुत समुद्र के इस वर्णन में विशेषणों की समानता से किसी अप्रस्तुत राजा के व्यवहार की प्रतीति होने के कारण यह 'समासोक्ति' है?

अथवा समुद्र के अप्रस्तुत वर्णन द्वारा उसके समान गुणवाले किसी प्रस्तुत महापुरुष के चरित्र की प्रतीति होने के कारण 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' है? यह सन्देह होता है इन दोनों अलंकारों में निश्चित रूप से एक का ग्रहण और दूसरे का त्याग नहीं हो सकता है, अतएव सन्देह संकर है।

"नेत्रानंद विधायक अब इस चंद्रबिम्ब का हुआ प्रकाश,
चमक रहे थे उड्डगण उनका रहा कहीं अब है न उजास।
इस अरविंद वृन्द का फिर क्यों रह सकता था चारु विकास,
आश-निरोधक तम[1] का अब भी हुआ न क्या निःशेष विनाश।"

यहाँ 'यह काम का उदय करने वाला काल है' इस प्रकार भंग्यन्तर से कहा जाने से क्या 'पर्य्यायोक्ति' है? या नायिका के मुख-उपमेय का कथन न करके केवल चन्द्रबिम्ब का कथन किये जाने के कारण 'रूपकातिशयोक्ति' है।[2] अथवा 'इस' शब्द से मुख का निर्देश करके मुख में चन्द्रमा के अभेद होने से रूपक है[3]? अथवा 'इस' शब्द से मुख-प्रस्तुत और चन्द्रमा अप्रस्तुत का 'नेत्रानंद विधायक' आदि एक धर्म कहा जाने के कारण दीपक है? अथवा मुख और चन्द्रमा दोनों प्रस्तुतों का एक धर्म कहा जाने के कारण 'तुल्योगिता' है? या सन्ध्या समय में विशेषणों की समानता से मुख का बोध होने के कारण समासोक्ति है। इत्यादि बहुत से अलंकारों का यहाँ सन्देह होता है अतः सन्देहसंकर है।

मिश्रित अलंकारों के निर्णय करने के लिए साधक और बाधक का स्पष्टीकरण—

---

१ चन्द्रमा के पक्ष में सब दिशाओं में व्याप्त अन्धकार और मुख पक्ष में सब अभिलाषाओं को रोकने वाली विरह-जन्य मूढ़ता।

२ रूपकातिशयोक्ति मानी जायगी, तब उडुगण और अरविन्द, अन्य नायिकाओं के मुखों के उपमान मान लिये जायंगे।

३ 'रूपक' माना जायगा तब दूसरे, तीसरे और चौथे चरण के वर्णनों में जो रूपकातिशयोक्ति है, उसे उस रूपक की अंगभूत मान ली जायगी।

यहाँ एक से अधिक अलंकारों की स्थिति में एक अलंकार का साधक या दूसरे अलंकार का बाधक—इन दोनों में एक—होता है वहाँ एक अलंकार का निर्णय हो जाता है। अतः वहाँ सन्देह संकर अलंकार नहीं होता। 'साधक' का अर्थ है किसी एक अलंकार के स्वीकार करने में अनुकूलता होना। और बाधक का अर्थ है किसी एक अलंकार के स्वीकार करने में प्रतिकूलता होना।

एकवाचकानुप्रवेश संकर अलंकार

एक ही आश्रय में स्पष्ट रूप से एक से अधिक अलंकारों की स्थिति को एकवाचकानुप्रवेश कहते हैं।

लक्षण में एक आश्रय के कथन द्वारा एक 'पद' समझना चाहिए। जहाँ एक ही छन्द के पृथक् पदों में एक से अधिक अलंकारों की स्थिति होती है, वहाँ पूर्वोक्त संसृष्टि अलंकार होता है।

आचार्य मम्मट ने शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का एक पद में समावेश होने में यह अलंकार माना है। सर्वस्वकार रुय्यक ने केवल दो शब्दालंकार या केवल दो अर्थालंकारों के पद में समावेश होने में यह अलंकार माना है।

"डर न टरै नींद न परै हरै न काम-विपाक;
छिन-छाकै[1] उछकै[2] न फिरि खरौ विषम छवि-छाक[3]।"

यहाँ 'छविछाक' इस एक ही पद में 'छ' वर्ण की आवृत्ति होने के कारण अनुप्रास शब्दालंकार और छवि रूप मदिरा यह रूपक 'अर्थालंकार' है।

"लगि लगि ललित लतान सो लहि-लहि मधुप मदंध,
आवत दच्छिन ओर तें मारुत मधुप-मदंध॥"

---

१ भरक्षण के सेवन मात्र से। २ नशे का उतारना। ३ रूपलावण्य रूप मदिरा।

यहाँ 'मारुत मधुप-मदंध' इस एक ही पद में मकार की आवृत्ति होने के कारण अनुप्रास और मारुत को मधुप रूप कहे जाने के कारण रूपक है।

ग्रन्थनिर्माण

लेखक के 'काव्य-कल्पद्रुम' ग्रन्थ से इस ग्रन्थ का सम्बन्ध—

"काव्यकल्पतरु ग्रन्थ के हैं द्वै भाग अनूप,
तिनमें दूजे भाग को यह संक्षिप्त सुरूप।"

ग्रन्थकर्ता—

"करता धरता हैं वही हृदयस्थित नँदलाल,
भ्रम बस याको रचयिता कहिय कन्हैयालाल।
यद्यपि हौं मति अल्प पै अकरन करन गुपाल,
जिन अचरज कछ करहु लखि मरुभुवि सरस रसाल।।"

ग्रन्थ निर्माण समय—

"उन्नीसौ चौरानवे विक्रम वर्ष प्रमान,
यह संक्षिप्त रु सरल अति ग्रन्थ भयो निरमान।"